समरथ

मार्च-अप्रैल 2007 ◆ नई दिल्ली

मुख्तार माई को मानवाधिकार पुरस्कार

पाकिस्तान में महिलाओं के लिए लड़ाई का प्रतीक बन चुकी मुख्तार माई को यूरोपीय परिषद के मानवाधिकार पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उन्हें फेयर ट्रेड मूवमेंट के फ्रांसिस्को वैन डेर हॉफ के साथ साझा रूप से इस पुरस्कार के लिए चुना गया। मुख्तार माई ने उन लोगों को सजा दिलाने के लिए आंदोलन छेड़ दिया था जिन्होंने उनके साथ बलात्कार किया था। उन्हें आखिरकार...

नाहिं तो जनम नसाई

पिछले लगभग पांच वर्षों से भारतीय संसद में बजट पेश होता है और पास हो जाता है। बजट पर बहस नाममात्र को ही होती है। ऐसा माना जा रहा है कि राजनीति एक तरफ है लेकिन अर्थव्यवस्था उससे मुक्त है इसलिए आर्थिक पहलुओं पर बातचीत की गुंजाइश कम ही है। सरकारें आती जाती रहती हैं लेकिन अर्थव्यवस्था का ढर्रा नहीं बदलता। दरअसल आर्थिक पहलू पर कोई मतभेद नज़र ही नहीं आता और दक्षिणपंथी और मध्यमार्गी धाराओं का तो कहना ही क्या, अब वामपंथ भी नए रंग दिखाना शुरू हो गया है। कुछ भाषणबाज़ी, बयानबाज़ी और नारेबाज़ी को छोड़ कोई ठोस कदम उनकी तरफ़ से भी नज़र नहीं आता। इतना ही नहीं, यात्रा सिंगूर और नंदीग्राम तक पहुंच चुकी है।

एक मज़े की बात और भी है। सरकारें महंगाई रोकने का दावा भी करती हैं। आंकड़े दिखाए जाते हैं। वाह रे आंकड़े - टी.वी., कंप्यूटर फ्रिज, कार, मोबाइल फोन वगैरह-वगैरह। सबके दाम घटे और महंगाई की दर कम हो गयी। अनाज और अन्य रोजमर्रा की ज़रूरतों की चीज़ों के दाम खूब बढ़े। बस हिसाब बराबर। मंहगाई रुक गयी। जो लम्बी गाड़ी दौड़ाएगा उसकी बला से खाद्यानों का दाम बढ़े या घटे। आम आदमी, किसान, मज़दूर, रिक्शा चालक, झुग्गीवाला, ठेलेवाला, चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी वगैरह-वगैरह। यह सब क्या करें? सरकारी जवाब मिल सकता है सर्वाइवल ऑफ दि फिटेस्ट यानी गरीब को जीने का अधिकार ही नहीं। लेकिन ***नागार्जुन*** *क्या कहते हैं यह भी ज़रा सुन लें।*

अन्न-पचीसी

1

जन-जन का दिल टोह रही है अन्नब्रह्म की माया
भस्मासुर को मोह रही है अन्नब्रह्म की माया
प्रभु-पीढ़ी को परख रही है अन्नब्रह्म की माया
सिर धुनती है, बिलख रही है अन्नब्रह्म की माया
जन-जन का दिल टोह रही है अन्नब्रह्म की माया

2

डायन बनकर घूम रही है अन्नब्रह्म की माया
यम की ठोड़ी चूम रही है अन्नब्रह्म की माया
लोकधुनों पर थिरक रही है अन्नब्रह्म की माया
बल की बुकनी छिड़क रही है अन्नब्रह्म की माया
डायन बनकर घूम रही है अन्नब्रह्म की माया

3

प्राण-प्राण पर डोल रही है महाकाल की छाया
हिय-हिय में बिख घोल रही है महाकाल की छाया
भ्रम का भूत भगाएगी यह महाकाल की छाया
घर-घर अलख जगाएगी यह महाकाल की छाया
प्राण-प्राण पर डोल रही है महाकाल की छाया

4

गोदामों में अन्न कैद है, पेट-पेट है खाली
भूख-पिशाचिन बजा रही है, द्वार-द्वार पर थाली
दो चाहे हिंसा की देवी को गाली पर गाली
बलि पशुओं की ले रही है, खप्पर लेकर काली
गोदामों में अन्न कैद है, पेट-पेट है खाली

5

अन्नब्रह्म को भूल गई क्या वीणा-पुस्तकवाली?
शीशमहल में बुनता है कवि नायलान की जाली !
कुछ आँखों का काजल देखा, कुछ गालों की लाली
भुला दिया है कटु सत्यों को, देखो खामखयाली
अन्नब्रह्म को भूल गई क्या वीणा-पुस्तकवाली

6

राजनीति क्या नाप सकेगी अन्नब्रह्म की माया
कूटनीति क्या भाँप सकेगी अन्नब्रह्म की माया
मरी खाल की फूँक बनेगी अन्नब्रह्म की माया
दस लेनिन दस तिलक जनेगी अन्नब्रह्म की माया
राजनीति क्या नाप सकेगी अन्नब्रह्म की माया

7

कंकालों को नाच सिखाती अन्नब्रह्म की माया
लघु रूप को विराट दिखाती अन्नब्रह्म की माया
दाढ़ी-चोटी को मिलवाती अन्नब्रह्म की माया
चिंतन को ठोकर खिलवाती अन्नब्रह्म की माया
कंकालों को नाच नचाती अन्नब्रह्म की माया

8
कण-कण में शोले भड़काती अन्नब्रह्म की माया
सौ-सौ जंजीरें तड़काती अन्नब्रह्म की माया
वहम झाड़ती, भूत भगाती अन्नब्रह्म की माया
कुटी-कुटी में अलख जगाती अन्नब्रह्म की माया
कण-कण में शोले भड़काती अन्नब्रह्म की माया

9
भत्ता खींचे भले विधायक, हमें चाहिए दाना
आपस में उलझें जननायक, हमें चाहिए दाना
प्रस्तावों पर बतकुट्टन हो, हमें चाहिए दाना
झड़पा-झड़पी हो, अनबन हो, हमें चाहिए दाना
भत्ता खींचे भले विधायक, हमें चाहिए दाना

10
भूखे भजन कहाँ से होगा, चारों वेद ठिठोली
मन रोएगा, कान सुनेंगे, आदर्शों की बोली
अन्नचोर खेलें जन-जन के अरमानों की होली
छूट-फूट से टकराएगी सोशलिज़्म की गोली
भूखे भजन कहाँ से होगा, चारों वेद ठिठोली

11
अंधी होगी भूख कि छूटे अश्रुगैस के गोले
खौल रही है गंगा-जमुना, भड़क उठे हैं शोले
शांति-पाठ सुनते हैं प्रभु जी, सिंहासन क्यों डोले
मनमानी करता है गुपचुप, कालनेमि क्या बोले
अंधी होगी भूख कि छूटे अश्रुगैस के गोले

12
व्यापारी हाकिम नेता तीनों ही खूब मिले हैं
अंदर नीचे काई-कीचड़, ऊपर कमल खिले हैं
जो चाहो माँगो इनसे, सपनों में होंठ हिले हैं
तीन रंग के तेरह टुकड़े क्या ही खूब सिले हैं
व्यापारी हाकिम नेता तीनों ही खूब मिले हैं

13
भूखों मरते हों बच्चे तो यों ही मत रह जाओ
आँतें सूख रही हों तो आँसू मत वृथा बहाओ
हाथ-पैर वाले हो, नाहक कायर नहीं कहाओ
कीड़ों और मकोड़ों जैसे यों मत प्राण गँवाओ
भूखों मरते हों बच्चे तो यों ही मत रह जाओ

14
कूच करेंगे भुक्खड़, थर्राएगी दुनिया सारी
काम न आएँगे रत्ती-भर विधि-निषेध सरकारी
बंदूकों पर हावी होगी सैनिक की लाचारी
सरे-आम कीड़े खाएँगे बेदम अत्याचारी
कूच करेंगे भुक्खड़, थर्राएगी दुनिया सारी

15
जन-जन में विद्रोह भरेगी अन्नब्रह्म की माया
गुर्बत का मैदान चरेगी अन्नब्रह्म की माया
भूखों का भवताप हरेगी अन्नब्रह्म की माया
दुख में सुख - संचार करेगी अन्नब्रह्म की माया
जन-जन में विद्रोह भरेगी अन्नब्रह्म की माया

16
कहाँ गए चावल-गेहूँ, दलहन-तिलहन के दाने
कागज का रुपया रोया सुनना पड़ता है ताने
हर सीढ़ी छोटी पड़ती है, भाव चढ़े मनमाने
सबकी कलई उतर गई है, सभी गए पहचाने
कहाँ गए चावल-गेहूँ, दलहन-तिलहन के दाने

17
पके बाल की खाल निकालें, करते हैं मुँह काला
इन पर तो कुढ़ता ही होगा नीली छतरीवाला
कौन हटाए चूल्हे पर से अब मकड़ी का जाला
भुक्खड़ देखें मकई के दानों की मोहन माला
पके बाल की खाल निकालें, करते हैं मुँह काला

18
शासन करना क्या जानें ये कपटी-क्रूर-कुचाली
गल्लाचोरों की पौ-बारह, जनता की पामाली
किसे रिझाए नेताओं की सूरत रोगनवाली
राजनीति बदनाम हुई, बाकी है खामखयाली
शासन करना क्या जानें ये कपटी-क्रूर-कुचाली

19
गुलछर्रे वे उड़ा रहे हैं गुटबंदी के बल पर
उनकी निष्ठा टँगी हुई है केवल अपने दल पर
भाई और भतीजे हावी हैं उनकी हलचल पर
हम तो यों ही तरस खा गए उनकी घुटी अकल पर
गुलछर्रे वे उड़ा रहे हैं गुटबंदी के बल पर

20
बैलों के साथी हलधर, तुम हँसियावाले आओ !
खान-श्रमिक तुम भूत सरीखे काले-काले आओ !
आओ छटनी के शिकार ! तुम निपट निराले आओ !
आओ तुम बेकार पंगु तुम, बैठे-ठाले आओ !
बैलों के साथी हलधर, तुम हँसियावाले आओ !

21
आओ, तुमको बुला रही है अन्नब्रह्म की माया
उभर रहा है देश यही है अन्नब्रह्म की माया
जन-मन में करवट लेती है अन्नब्रह्म की माया
विप्लव के अंडे सेती है अन्नब्रह्म की माया
आओ, तुमको बुला रही है अन्नब्रह्म की माया

शेष पृष्ठ 19 पर...

मौन या उत्तरजीविताः सृजनात्मक लेखन का जेण्डर पहलू

■ वोल्गा

अभिव्यक्ति के अधिकार हेतु वैश्विक नारीवादी हस्तक्षेप को प्रेरित करने के लिए गठित अन्तर्राष्ट्रीय स्वतंत्र अभिव्यक्ति नेटवर्क 'वूमेन्स वर्ल्ड' (वूमेन्स वर्ल्ड ऑर्गेनाइजेशन फॉर राइट्स, लिटरेचर एण्ड डेवलपमेण्ट) से 'महिला एवं सेन्सरशिप परियोजना' विकसित हुई और आज वह उसका अनौपचारिक हिस्सा भी है।

प्रस्तुत आलेख वर्ष 1999 से 2001 के दरमियान समूचे देश में सम्पन्न लेखकों के साथ दस भाषा विशिष्ट कार्यशालाओं के निष्कर्षों पर आधारित है, जिनका समापन एक राष्ट्रीय संगोष्ठी में हुआ था। प्रस्तुत संगोष्ठी में इस बात की पड़ताल करने की कोशिश की गयी थी कि किस तरह जेण्डर आधारित सेन्सरशिप के घातक एवं अप्रत्यक्ष रूप, प्रगट आधिकारिक दमन से ज्यादा समस्यापूर्ण होते हैं।

दुनिया भर की महिला लेखक जो 'वूमेन्स वर्ल्ड' से (जो इण्टरनेशनल पेन वूमेन रायटर्स कमेटी से उभरी थी) सम्बद्ध हैं, मानती हैं कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के महिलाओं के अधिकारों के लिये जेण्डर आधारित सेन्सरशिप प्रमुख खतरा है। यह शब्द जिसका आविष्कार वर्ष 1993 में फिलीपिनो लेखिका निनोतच्का रोस्का ने किया, विभिन्न तरीकों से महिलाओं को मौन कर देने की ऐतिहासिक, विश्वव्यापी प्रक्रिया की ओर इशारा करता है, जो सूक्ष्म लेकिन प्रभावी ढंग से, महिलाओं के लिए समानता, दीर्घकालीन जीवनयापन और शान्ति हासिल करने के सिलसिले को बाधित करती है।

आदिकाल से ही आज़ादी के तसव्वुर/खयाल ने मानवीय कल्पना को उद्वेलित किया है। मानवाधिकारों के सार्वभौमिक घोषणापत्र की धारा 19 और भारतीय संविधान में दर्ज, सरहदों की परवाह न करने वाले, अपने मत एवं अभिव्यक्ति की आज़ादी एवं किसी भी माध्यम के जरिये विचारों को पाने या उन्हें सम्प्रेषित करने के अधिकार की पुरजोर हिमायत की जाती रही है। इस अधिकार का किसी भी तरह के उल्लंघन को मानवीय आज़ादी और आधुनिक सभ्यता के मूल्यों पर हमले के रूप में देखा जाता है। साहित्य चूंकि सामाजिक बदलाव का एक सशक्त माध्यम है, लिहाजा इतिहास के कठिन मुक़ामों पर तमाम सारे लेखकों को - स्थापित हुकूमतों और सामाजिक व्यवस्था को उनके द्वारा पेश चुनौती के चलते - देश निकाला दिया गया है, जेल में ठूंसा गया है या उन पर पाबन्दी लगा दी गयी है। अग्रणी तेलगू लेखक और मार्क्सवादी बुद्धिजीवी कोडावाटिगाण्टी कुटुम्बा राव ने एक बार कहा था, '' अपनी जिन्दगी में जिस काम को मैं पूरी आज़ादी के साथ कर सकता हूं, वह काम लेखन का है। कोई भी भौतिक या भावनात्मक सीमायें मुझे वहां रोक नहीं सकतीं - ऐसा कोई भी अन्य काम नहीं है जिसे मैं इतनी स्वतंत्रता से कर सकता हूं।'' कृष्णा शास्त्री का कहना है, '' मैं अपने लेखन से दुनिया को आप्लावित कर दूंगी ताकि वह आज़ादी के तरानों से झनझना उठे।'' दुनिया भर के लेखकों ने, वे जिस दुनिया में रहते हैं उसे बदलने के लिए कलम उठायी है और उनके लेखन में आदर्श समाज, जो आज़ादी का स्वर्ग होगा, की उनकी भविष्य दृष्टि मिल सकती है। उनका मानना होता है कि यह उनका फर्ज़ है कि वे मानवीय आज़ादी को संकुचित एवं प्रतिबन्धित करने वाली हर प्रथा या संस्था को बेपर्द करें और उसे उखाड़ दें। लेकिन हक़ीकत यही है कि यहां 'मानव' के तौर पर 'पुरुष' को देखा जाता है और साहित्य का व्यवहार शुद्धतः पुरुष गतिविधि में रूपान्तरित हुआ है। महिलायें साहित्य में आयी हैं, लेकिन विषय के तौर पर। और जैसे-जैसे उन्होंने लेखन शुरू किया है यह साफ होता गया है कि लेखन और स्वतंत्रता की धारणायें जेण्डरीकृत हैं। आज़ादी के जेण्डर स्वरूप की ओर लौटते हुए, यह साफ हो जाता है कि आज़ादी की चाहत और उसका उत्सव उन पुरुषों का विशेषाधिकार है जो लिखते हैं, इसके बरअक्स महिलायें अक्सर 'एक चिड़िया ने मुझे अपने साथ उड़ने के लिए बुलाया - लेकिन मैं उसे कैसे समझाऊँ कि मेरे पास पंख नहीं हैं? (बानो ताहेरा) या 'काश ! किस तरह तैरा जाता है, किस तरह उड़ा जाता है, इस बात को मैं भूल चुकी होती।'' (कृष्णा बसु) जैसी बातों तक सिमटी रह जाती हैं।

इस तरह विशिष्ट स्वरलहरी असंगति/वियोजन की मालूम पड़ती है : महिलायें क्या कहती हैं और क्या लिखती हैं, उसके बीच की असंगति ; उनके कहे हुए शब्दों और उनके मौनों के बीच की असंगति ; उनके पिताओं और पतियों द्वारा दिया जाने वाला प्रोत्साहन और समर्थन और जब कोई नियम का उल्लंघन हो तो असहमति वाली खामोशी। लेखन के विषय-वस्तु के तौर पर महिलायें और कर्ता एवं लेखक के तौर पर महिलायें, इनके बीच

की असंगति। भाषा, साहित्य और सामाजिक आन्दोलन और महिलाओं की आवाज़ के उभार के बीच की असंगति। भाषा और जेण्डर तथा जेण्डर एवं विधा के बीच की असंगति।

मानवीय और बुनियादी अधिकारों की तरह सेन्सरशिप के बारे में चर्चायें आम तौर पर राजनीतिक और नागरिक अधिकार और राज्य द्वारा कायम सेन्सरशिप की चर्चा तक ही सीमित रह जाती हैं। आधिकारिक दमन की तुलना में जेण्डर-आधारित सेन्सरशिप की रूपरेखा अधिक व्यापक और परिभाषित करने में अधिक कठिन मालूम पड़ती है। पुरुषों द्वारा नकारी गयी और महिलाओं द्वारा आत्मसातीकृत की गयी जेण्डर-आधारित सेन्सरशिप एक ऐसी व्यवस्था की हिफाज़त करती है जिसे उत्पीड़क के तौर पर परिभाषित करना मुश्किल होता है। जैसे की के. पी. सुधीर बताते हैं, जेण्डर-आधारित सेन्सरशिप एक पुरुष केन्द्रित दुनिया को बनाये रखने की एक और प्रहरी बन जाती है। नियमित तौर पर सर उठाने वाली तानाशाहियों को ध्वस्त करने के लिये अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जरूरी है, लेकिन एक ऐसी अभिव्यक्ति जो घर, शादी, परिवार और मातृत्व की निरंकुशता पर केन्द्रित होती है, उसे चुनौती देना मुश्किल जान पड़ता है। जबकि राजनीतिक व्यवस्थाओं को आसानी से ध्वस्त किया जा सकता है, पारिवारिक और जेण्डर प्रणालियों की शुद्धता की रक्षा, सामाजिक एकीकरण की हिफाजत के लिए बुनियादी मालूम पड़ती है, जिसका स्वरूप पारदेशीय होता है। व्यवस्था को कोई खतरा पहुंचाये बिना राजनीतिक ढांचों को बदला जा सकता है, लेकिन ऐसा कोई भी बदलाव जो सम्बन्धों और पारिवारिक संस्थाओं को चुनौती दे, वह अराजकता और विनाशात्मक व्यभिचार जैसे खतरों से भरा रहता है। परिवार और शादी का दायरा चर्चा और बहस के लिए बन्द रहता है।

आखिर अपने आत्मीय रिश्तों के बारे में अपने अनुभवों को अभिव्यक्ति देने की महिलाओं की आज़ादी आखिर समाज के लिए क्यों खतरा बन जाती है?

परिवार में ऐसी क्या बात है जो सामाजिक सुरक्षा के लिए बुनियादी कही जा सकती है? और क्यों महिलाओं की पहचान परिवार के अन्दर इस कदर गुत्थी रहती है? सबसे महत्वपूर्ण, परिवार और मातृत्व का विचार क्यों सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए इतना केन्द्रीय महत्व का है? महिला लेखकों को जिन बाधाओं का सामना करना पड़ता है, उन्हें गम्भीर सामाजिक सरोकार का मुद्दा क्यों नहीं समझा जाता? और क्यों इन कठिनाइयों को व्यक्तिगत या मामूली कहा जाता है? महिलाओं के दोयम दर्जे को व्यवस्था से सम्बंधित मान लेने के प्रति यह अनिच्छा, इस तरह उसकी राजनैतिक अन्तर्वस्तु और गम्भीरता को नकारना, एक समस्या है। और दूसरी यह धारणा, जो गहराई में धंसी है, जो समाज को सार्वजनिक और निजी दायरों में विभाजित करके देखती है और इसमें एक अन्तर्निहित समझदारी यह रहती है कि सार्वजनिक की तुलना में निजी दोयम रहता है और उससे अलग रहता है। इस विभाजन से महिलायें जिस उत्पीड़न को झेलती हैं उसे अदृश्य कर देता है और अवैध घोषित करता है। श्रम के जेण्डर विभाजन पर आधारित यह समझदारी जो निजी को अलग कर देता है और जो प्रजनन श्रम के दायरों को अदृश्य कर देता है (जिसमें बच्चों, बीमार और बुजुर्गों की देखभाल का मसला शामिल होता है), सार्वजनिक/निजी का विभाजन इस बात को सुनिश्चित कर देता है कि महिलाओं की नागरिकता नागरिक समाज की विभिन्न संस्थाओं में जड़ जमाये रहती है। समग्रता में कभी भी जिसका आकलन नहीं किया जाता या पुरुष नागरिकों के अधिकारों की तरह जिन पर कभी भी प्रभावी ढंग से अमल नहीं किया जाता, महिलाओं को आज भी, वोट देने के अधिकार के रहते हुए भी, नागरिक के तौर पर उनका न्यायसंगत दायरा हासिल नहीं हो सका। नागरिकत्व का मसला राष्ट्र-राज्य और राज्य के अन्तर्गत व्यक्तिगत अधिकारों से सम्बंधित होता है, जो परिवार, गोत्र या समुदाय के दावों से परे का मामला है। महिलायें, जो समुदाय की संस्कृति और परम्परा को बनाये रखने का जिम्मा सम्भालती हैं, वे बेटियां, पत्नियां, मातायें और गृहिणियां बनी रहती हैं, जो पुरुषों के साथ अपने रिश्ते के जरिये परिभाषित होती है लेकिन उन्हें वास्तविक नागरिकत्व से वंचित किया जाता है।

यह हकीकत ही है कि नागरिकत्व का मसला शुद्ध तौर पर पुरुषों का अधिकार-क्षेत्र होता है जिसके अन्तर्गत महिलायें परिवार और समुदाय में सन्निहित/अंतःस्थापित होती हैं, और इस बात को ढक देता है कि कानून और नागरिकत्व की राजनीतिक संस्थायें राज्य प्रणालियों द्वारा संचालित होती हैं। आखिर कर्तव्यों और विशेषाधिकारों के पारम्पारिक प्रश्नों के परे महिलाओं द्वारा अनुभव किये जाते रहे नागरिकत्व का अस्तित्वमान यथार्थ क्या होता है? अस्मिता/पहचान और अधिकार को प्रदान करने के सम्बन्ध में नागरिकत्व का जेण्डरीकरण किस हद तक महत्वपूर्ण रहता है? किस तरह अधिकारों का यह अधूरापन, महिलाओं के नागरिकत्व को परिभाषित करने के पाखण्ड के साथ मिल जाता है? क्या संवैधानिक आदेश द्वारा प्रदत्त समानता, जो वोट के अधिकार की गारंटी करती है, अभिव्यक्ति और संगठन की स्वतंत्रता को भी सुनिश्चित करती है?

सेन्सरशिप की प्रणालियों और अवस्थाओं को तलाशते हुए हम पाते हैं कि इसमें परिवार अग्रिम स्थान ग्रहण करता है। मराठी लेखिका, मंगला गोडबोले कहती हैं, **'' मेरे लिये सृजनशीलता का मतलब एक रेनकोट जैसा है। जब मैं अपने घर में प्रवेश करती हूं मैं अपने दरवाजे के बाहर उस रेनकोट को लटका देती हूं।''**

परिवार के किसी नाजुक हिस्से को सार्वजनिक दायरे तक पहुंचने से रोकने के लिये किया जाता उसका स्पष्ट अलगाव और

पृथ्थकरण, इस स्थान की शुद्धता बनाये रखने के लिए बहुत जरूरी होता है। आखिर वही परिवार, जो भौतिक और भावनात्मक सुरक्षा प्रदान करने में सहायतापूर्ण संरचना के तौर पर सामने आता है, क्यों सृजनात्मकता का इतना विरोधी होता है? वह कौन सी विभाजक रेखा होती है जो एक कारागार जैसी संस्था की सुरक्षा को घर द्वारा प्रदत्त सुरक्षा से अलग कर देती है?

मलयाली लेखिका गीता हरिहरन कहती हैं कि उनका प्यार एक बोनसाई पीपल की तरह है जिसके स्वाभाविक विकास को रोक दिया गया है।

नैतिकता का धारदार चाकू
अक्सर उसकी जड़ों को काट देता है ..
एक तरह से चेतावनी देने के अन्दाज़ में
हर दिन
शाखायें छांटी जाती हैं

सम्मान और गरिमा की रक्षा का प्रतीक परिवार, पवित्र समझा जाता है। समुदाय की संस्कृति की रक्षा करने के लिये समुदाय - शादी, मातृत्व, यौनिकता पर नियंत्रण और परम्परा - जैसे समुदाय के स्तम्भों की हिफाजत करनी पड़ती है। जब एक पुरुष लेखक सार्वजनिक दायरे के विरोधाभासों और अन्तर्विरोधों पर सवाल उठाने और उन्हें उजागर करने की कोशिश करता है, तो उसे एक जायज काम समझा जाता है, क्योंकि एक कम उत्पीड़क, अधिक समतामूलक और इसलिये अधिक जनतांत्रिक हुकूमत कायम करने के लिये, सार्वजनिक दायरे की सत्ता को चुनौती दी जा सकती है और उसे उखाड़ा जा सकता है। इस तर्ज पर देखें तो सृजनात्मक लेखन, एक साथ ही अपने वक्त़ का इतिहास होता है और बदलाव का औजार भी होता है। लेकिन जब एक महिला लिखने लगती है, तो इस कदम का विद्रोही स्वरूप उस सुनियोजित मौन को तोड़ने लगता है जो विचारधारात्मक होता है, जिसे बल एवं सहमति के जरिये बनाये रखा जाता है, एक ऐसा मौन जो अदृश्य और अनमनीय होता है। उनके लेखन को अराजक और खतरनाक तरीके से विस्थापनकारी समझा जाता है। उत्पीड़न के स्त्रोत को नाम देना या उसे परिभाषित करना ही अपने आप में सन्तुलन और उत्तरजीविता का संघर्ष बन जाता है। जैसे कि हिन्दी कवयित्री अनामिका लिखती हैं, **एक महिला का जीवन शुरू से आखिर तक सेन्सर किया जाता है, और अगर सेन्सर नहीं किया गया तो बुरी तरह सम्पादित किया जाता है। अनुराधा मारवा रॉय कहती हैं कि अपने लेखन को सेन्सर करने के बजाय वह जिन्दगी को ही सेन्सर करती हैं।**

परिवार और शादी दोनों विचारधारात्मक और सांस्कृतिक संस्थायें हैं, और व्यक्तिविशेष के मनो-सामाजिक और यौनिक, आत्म, जेण्डरीकृत होते हैं। एक तटस्थ दायरे के तौर पर आत्म की गणंत/संरचना, जो अपने आप में एक छलावा है, से पलायन मुश्किल है। वे महिलायें जो इस दायरे का उल्लंघन करती हैं उन्हें अनारीवादी और विध्वंसक होने के आरोपों से जूझना पड़ता है, एक ऐसी प्रक्रिया जो दुखद और भावनात्मक तौर पर कमजोर कर देने वाली होती है।

'प्यार सेन्सरशिप का वाहक होता है' ऐसा कहते हैं चन्द्रमति और अनामिका इसी बात को दोहराती हैं, 'कतरने के लिए कैंचियां, मेरे होठों को सिलने के लिए सुई और धागा मौजूद है। अगर मैं अपने अचेतन को बयां करूं तो धरती कागज़ से भर जाएगी।' आत्मकथा लेखन जैसे साधारण से लगने वाले काम के बारे में मराठी लेखिका उर्मिला पवार कहती हैं, ''फिर मुझे अपने आप को निर्वस्त्र करना पड़ेगा। क्या मैं ऐसा कर सकती हूं? हक़ीकत यही है कि सेन्सरशिप के इतने स्तर हैं कि मैं अपना लेखन रोक देती हूं और अपने हाथों को विराम देती हूं।'' फिर यह इस प्रश्न को खड़ा करता है कि पुरुष और स्त्री के लिए आत्म/स्व के क्या मायने हैं। आखिर महिला के आत्म को ढकना क्यों जरूरी है? क्या उसका स्व/भौतिक शरीर से सम्बंधित होता है, जबकि पुरुष का स्व/शरीर से परे समुदाय, राष्ट्र और इतिहास पर पसरा होता है? पुरुषों के लिए जो यात्रा अंकित होती है वह एकरेखीय और सार्वजनिक होती है; महिलाओं के लिए वही यात्रा उनके सबसे आत्मीय रिश्तों और गहरे भावों की पड़ताल होती है, जो उनकी जिन्दगियों के ताने-बाने का निर्माण करती हैं।

अपने वैवाहिक घर के दमघोंटू स्वरूप के चलते महिलायें लेखन के जरिये पलायन का रास्ता तलाशती हैं। सुगत्थी सुब्रमनियम शायद इसीलिये कहती हैं

अपनी तमाम जरूरतों को
कविताओं में तब्दील करती रहती हूं मैं

महिलायें जीवित रहने के लिये लिखती हैं। वे खामोशी तोड़ने के लिये लिखती हैं, वे प्रतिकार के लिये लिखती हैं और वे अपनी कहानी बताने के लिये लिखती हैं। सत्यवती कहती हैं, ''हक़ीकत में हम जिस सेन्सरशिप का सामना करते हैं, उसका प्रतिकार हम लेखन के जरिये करते हैं।'' निश्चित ही इसकी क़ीमत चुकानी पड़ती है। कभी-कभी पाण्डुलिपियों को छिपाया जाता है, भूला दिया जाता है, चिन्ता में नष्ट भी किया जाता है। छिपाने और नष्ट करने की यह कार्रवाई क्या आत्म-सेन्सरशिप का प्रकार है या परिवार और समुदाय सेन्सरशिप का पहलू है, इसकी पड़ताल की जानी चाहिये।

यहां तक कि ऐसे लेखक जो अनौपचारिक सेन्सॉरशिप के जेण्डरगत पहलू के प्रति संवेदनशील होते हैं, उन्हें यह बात स्वीकारने में कठिनाई होती है कि दायरे जेण्डरीकृत होते हैं और भेदभाव मौजूद होते हैं। (उनकी ओर से) इस विचार का काफी विरोध होता है कि सेन्सरशिप जेण्डर से निर्धारित होती है। इसकी वजह यह हो सकती है कि हक़ीकत को स्वीकारना, उसे ठीक से

प्रस्तुत करने और उसका मुकाबला करने को अधिक मुश्किल बना सकता है। किसी समस्या को नाम देना और किसी मुद्दे को चिन्हित करना कार्रवाई करने तथा जिम्मेदारी की मांग करता है। लेखक तो कण समान अकेला व्यक्ति ही है जिसे इसके लिए यदाकदा ही समर्थन मिल पाता है। इसकी तुलना में यह अधिक आसान होता है कि किसी तरह विभिन्न बाधाओं को लांघते हुए लेखन की कार्रवाई को जारी रखा जाये। अनामिका ने बताया था कि किस तरह उनके परिवार की तमाम महिलायें, मौसियां और नानियां, गुस्से से पत्र लिखती थीं, जिन्हें कहीं भेजा नहीं जाता था। यहां तक कि एक ने खुद भगवान को पत्र लिखा था! सहिष्णुता, धैर्य, संयम और नफ़ासत के मूल्यों ने उन्हें बिल्कुल गतिहीन बना दिया था। ''मैं उसी पार्ट का हिस्सा बनी रही जिसको मैंने बनाया नहीं था, जिसमें यह संस्कार दिये गये थे कि दोयम दर्जे के लोग ही -बहुत युवा, बूढ़े, वेश्यायें, लेखक और दासियां ही - 'बात' करते हैं।

निःशक्तिकरण करने के साथ वर्ग भी सेन्सर करता है और यही बात जाति में दिखती है। यह देखना महत्वपूर्ण है कि किस तरह वर्ग और जाति जेण्डरीकृत सेन्सरशिप के मुद्दे को जटिल बना देते हैं, उसके प्रगटीकरण को बदल देते हैं। महिलाओं और शूद्रों को वेद पढ़ने से मना किया गया था ; ऐसे लोग जो इन बातों का उल्लंघन करते थे, उनकी जीभ कटवाने और गला हुआ गरम सीसा उनके कानों में डालने का सिलसिला भी चला।

आखिर यह क्यों महत्वपूर्ण है कि **समाज के कुछ तबकों के ज्ञान तक जाने वाले रास्ते को काट दिया जाये और इस बात को सुनिश्चित किया जाये कि वे स्वरहीन हैं।** दर्द, हिंसा और शोषण से मुक्त दुनिया के बारे में बात करने से महिलाओं को रोका जाता है, जबकि 'उंची' जाति की महिलाओं को परम्परा और संस्कृति के नाम पर सेन्सर किया जाता है, जबकि 'नीची' जाति की महिलाओं को जाति अस्मिता के नाम पर सेन्सर किया जाता है। (हमारे लेखकों में से पचास फीसदी से अधिक ऊंची जाति के हैं और ब्राह्मण हैं, यह समाज में सेन्सरशिप के व्यापक पहलुओं को उजागर करता है। यहां इस बात को याद दिलाना जरूरी है कि विगत सदी में ऊंची जाति की वे महिलायें जिन्होंने ईसाई धर्म स्वीकारा उन्होंने ही जाति और ब्राह्मणवाद के खिलाफ खुल कर आवाज़ बुलन्द की।) दलित लेखिकाओं को उत्पीड़न की कई तहें झेलनी पड़ती हैं, जो सेन्सरशिप के वाहक का काम करती हैं : गरीबी, शिक्षा तक पहुंच की कमी, बाहरी दुनिया का कम दर्शन और अन्ततः, अपने समुदाय का नियंत्रण। मराठी में लिखने वाली प्रज्ञा लोखण्डे बताती हैं कि किस तरह दलित लेखिकाओं को दलित समाज और आन्दोलन के अन्दर मौजूद पितृसत्तात्मक मूल्यों को बेपर्द करना मुश्किल जान पड़ता है। जब वे जाति और वर्गीय उत्पीड़न के बारे में बोलती हैं तो उनकी प्रशंसा की जाती हैं और उन्हें प्रोत्साहित किया जाता है, लेकिन जब अपने समुदाय के अन्दर मौजूद पितृसत्ता के बारे में वे बोलती हैं, तब उन पर गद्दारी और विश्वासघात का आरोप जड़ दिया जाता है। दलित दायरों में पितृसत्ता के सर्वव्यापी वर्चस्व को उजागर करने वाला एक मुहावरा बेहद प्रचलित है **''अगर आप की साड़ी को आग लगती है तो क्या आप उसे आम लोगों के बीच उतार सकते हैं?''** लज्जा और सम्मान की ब्राह्मणवादी धारणायें, जिनकी दलित पुरुषों द्वारा अन्य सभी मामलों में आलोचना की जाती है और उस पर हमला किया जाता है, उसे महिलाओं के सन्दर्भ में बिना कुछ कहे चुपचाप स्वीकारने पर जोर दिया जाता है।

समुदाय द्वारा विषयवस्तु पर सेन्सरशिप की बात करते हुए, उर्दू में जारी महिला लेखन ने इस बात का पूरा संकेत दिया है कि धर्म, सियासत और यौन ये तीनों मुद्दे उनके दायरे के बाहर हैं। मुस्लिम महिलाओं के लिए यह समुदाय द्वारा सम्पन्न प्रत्यक्ष सेन्सरशिप का ही रूप है, लेकिन सभी महिला लेखकों ने इस बात की पुष्टि की कि इन विषयों पर लिखना कठिन होता है, क्योंकि स्वीकार्यता का डर, विशेषज्ञता एवं वक्त् की कमी और अनुसन्धान की सुविधा का अभाव होता है। जिस तरह श्रम का लिंग आधारित भेदभाव महिलाओं को कुछ कामों तक सीमित कर देता है और अधिक कुशलताओं और संसाधनों तक उनकी पहुंच को बाधित करता है, उसी तरह महिलाओं के भोगे हुए यथार्थ का स्वरूप, घरेलूपन, गतिशीलता की कमी और सख्त आचारसंहिता जो सार्वजनिक दायरे में भी उनका पीछा करती है, विषयवस्तु का वास्तविक जेण्डरीकरण भी करती है। यह कुछ महत्वपूर्ण सवालों को जन्म देता है : अगर मानवीय जीवन के सिलसिले में निजी दायरा महत्वपूर्ण और बुनियादी है, फिर अपने दबावों एवं अन्तर्विरोधों के साथ इस दायरे का भोगा हुआ यथार्थ, लेखन की विषयवस्तु बनना चाहिये। ''निजी'' को भी उतनी ही गम्भीरता से पढ़ना जिस गम्भीरता से हम ''सार्वजनिक'' को पढ़ते हैं, यही वास्तविक बदलाव के लिए प्रेरणा का काम कर सकता है। लेकिन दरअसल होता यह है कि महिलायें - बकौल शशि देशपाण्डे ''सीधे अपनी जिन्दगी'' के बारे में - खुल कर न बताने लगें इसलिये उन्हें रोकने के लिये हर सम्भव रणनीति अपनायी जाती है और इसके बावजूद अगर वह लिखने पर जोर देती हैं तो उनके लेखन को न पढ़ा जाता है और न ही उसको मान्यता दी जाती है। जेण्डर के बीच का भेदभाव अपरिवर्तनीय मालूम पड़ता है। जैसा कि रुक्मिणी भाया नायर कहती हैं ,

महिला एक अलग तरह की वस्तु होती है
उसे कोष्टक में डाल दिया जाता है,
अधिक से अधिक उसे

अल्पविराम, अर्धविराम लगा कर भूला दिया जाता है
पढ़े लिखों की सर्कस में
वह चाहती है, बुरी तरह चाहती है,
कोई नया प्रेमी नहीं, न कोई मजबूत पुरुष
या विदूषक भी नहीं, बल्कि एक नयी भाषा
जिसमें वह अपनी बात कह सके

राजनीतिक सेन्सरशिप या राजनीतिक समूहों के अन्दर जेण्डरगत सेन्सरशिप, एक अलग विवादास्पद मुद्दा है। गरीबी, जाति और सामाजिक उत्पीड़न के बारे में लिखने वाली महिला को स्वीकारा जाता है और उसकी प्रशंसा भी की जाती है। लेकिन राजनीतिक दायरों के अन्दर मौजूद पितृसत्तात्मक रुख, जनतांत्रिक कार्यप्रणाली और मनोगत अनुभवों को उठाने को निरुत्साहित किया जाता है, उसकी आलोचना की जाती है या उसको दण्डित किया जाता है। तेलगू लेखिका वोल्गा बताती हैं कि वरिष्ठ पदाधिकारियों की इच्छाओं के विपरीत प्रस्तावों को पेश करना भी मुद्दे को हल्का बना सकता है और व्यक्ति को अपमानित कर सकता है। जब वसन्त कन्नाबिरन अपनी कविता 'इन्तज़ार' प्रकाशित करने वाली थी, जो बन्दी बना दिये गये इन्कलाबी की पत्नी के भावनात्मक शून्य को बयां करती थी, तब उसे यह सलाह दी गयी कि वह उन अनगिनत आदिवासी महिलाओं के बारे में लिखे जो अपनी जिन्दगियों को आन्दोलन के लिए कुर्बान कर रही हैं।

मृदुला गर्ग चार तरह की सेन्सरशिप की चर्चा करती हैं : राज्य सेन्सरशिप, समाज और पारिवारिक सेन्सरशिप और अन्ततः, आत्म-सेन्सरशिप।

राज्य सेन्सरशिप के अन्तर्गत, पुरुष और स्त्री लेखकों को वर्चस्वशाली राजनीतिक विचारधारा या विचारधारा के लबादे में आबद्ध धार्मिक आदेश से विचलित होने के लिए प्रताड़ित किया जा सकता है। लेकिन एक तीसरा रास्ता भी होता है जिसके अन्तर्गत पुरुषों की तुलना में महिलाओं को अधिक भर्त्सना का शिकार होना पड़ता है और वह होता है ''सार्वजनिक नैतिकता'' और ''सांस्कृतिक विरासत'' की धुंधली सी अवधारणा। वह उस किस्म के जनतंत्र में अधिक नज़र आती है जिस पर हम अमल करना चाहते हैं। अगर ईशनिन्दा या राजनीतिक विचारधारा के बारे में स्पष्ट कानून बने हों, तो कम से कम लेखकों को पता होता है कि किसे सेन्सर किया जा सकता है और किसकी आलोचना हो सकती है। लेकिन हिन्दोस्तां में हमें यह नहीं पता होता कि कब और कैसे किसी रचना को सार्वजनिक नैतिकता के प्रतिकूल घोषित किया जाएगा और उसको नियंत्रित करने की बात की जाएगी। चूंकि महिलाओं को ही सार्वजनिक नैतिकता का रक्षक समझा जाता रहा है, लिहाजा निजी दायरे की गैर-पाखण्डपूर्ण अभिव्यक्ति को सेन्सरशिप के लिए उचित घोषित किया जा सकता है। चूंकि प्रत्यक्ष गिरफ्तारी और कानूनी कार्रवाई के मसले हमारे मुल्क में कम दिखते हैं, इसलिये ऐसे मामले को भीड़ और मीडिया के ही सूपूर्द किया जाता है और इस तरह छद्म आरोप लगा कर प्रताड़ित करने का सिलसिला चलता है। राज्य भले ही सीधे सहभागी न बनें, वह चुपके से सुरक्षा को हटा कर भीड़ के हाथों मामले को सूपूर्द कर सकता है। समाज और राज्य की सेन्सारशिप इस तरह सड़क और मीडिया के जरिये घुल-मिल जाती है।

साहित्यिक प्रतिष्ठान अक्सर जेण्डर पूर्वाग्रह के दोषी होने का शिकार होते देखे जाते हैं जो उन लेखकों की रचनाओं की उपेक्षा करते हैं जो महिला हैं और उनका उचित साहित्यिक मूल्यांकन नहीं करते हैं। और इस तरह चुपके से सभी महिला लेखकों को एक ही तराजू में तौलते हैं और यह स्वीकारने से भी इन्कार करते हैं कि महिला लेखक बिल्कुल अलग विचार और शैली पर चल सकते हैं।

विचार ही विद्रोह की शुरुआत हो सकते हैं जबकि लोगों का अपने स्तर पर सोचना रोकने के लिए विचारधारा को इस्तेमाल किया जा सकता है। इसलिये ऐसी गिनीचुनी महिलायें जो किसी समूहविशेष की संहिता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता जाहिर करती हैं, उन्हें ही स्वीकारा जाता है जबकि वे जो प्रश्न उठाने पर जोर देती हैं और अपनी सच्चाई खुद तलाशना चाहती हैं उन्हें नकारा जाता है।

नतीजतन, जब महिलाओं को हाशिये पर ढकेला जाता है, दृश्य हाशियों के अन्दर ही कई अदृश्य हाशिये बना दिये जाते हैं, जहां लीक से हट कर चलने वाली, तमाम चिन्तनशील महिलाओं को ढकेला जाता है और भूला दिया जाता है। इसमें वे तमाम महिलायें शामिल होती हैं जो मौजूदा राजनीतिक तौर पर उचित समझे जाने वाले असहमति के रूप पर खरी नहीं उतरती हैं। यही वह कारण है कि स्थापित आलोचक और भोले-भाले लेखक हर महिला की रचना में, उनके हरेक की हरेक रचना में - भले ही उसका विषय जो भी हो - नारीवादी विमर्श को देखने को तैयार रहते हैं। लेखकों को इस तरह एक ही भीड़ में ढकेल देना, एक तरह से लेखन में अन्तर्निहित चिन्तन की आज़ादी और प्रयोग को वंचित करता है।

फिर यह अहम सवाल उठता है : आखिर राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक प्रतिष्ठान, किसी भी रचना को मनमाने ढंग से सेन्सर करके क्या हासिल करना चाहते हैं? दरअसल होना तो यह चाहिए कि लेखक खुद आत्म-सेन्सरशिप का प्रयोग करें। यह कहा जा सकता है कि आत्म-सेन्सरशिप आत्म सेन्सारशिप का सही अर्थ है। एक बार लेखक खुद आत्म-सेन्सरशिप पर अमल करना शुरू कर दें, और अधिक करने की आवश्यकता नहीं होती। ❐

शौचालयों की कमी : वर्गीय एवं यौन भेदभाव का एक प्रकार

■ अंजलि सिन्हा

तीसरी दुनिया की कतारों में शामिल भारत जैसे देश में शौचालयों की आम कमी है। संयुक्त राष्ट्रसंघ विकास कार्यक्रम की वर्ष 2006 की रिपोर्ट बताती है कि तीन में से एक भारतीय के लिए किसी भी तरह के शौचालय की सुविधा उपलब्ध नहीं है और स्वच्छ शौचालयों की कमी लोगों के जीवन में कितना कहर बरपा करती है, उसका अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि हर साल लगभग साढ़े चार लाख बच्चे डायरिया/दस्त जैसी बीमारी से मर जाते हैं लेकिन शौचालयों की आम कमी के साथ-साथ यह मसला स्त्री एवं पुरुष के लिए अलग-अलग ढंग से किस कदर प्रभावित करता है, यह भी एक अहम सवाल है। स्त्रियों को बराबरी से जीने के हक से वंचित करने वाला यह समाज उनके लिये साफ-सफाई के बराबरी के इन्तजाम के बारे में सोचेगा, यह आज की तारीख में मुश्किल ही दिखता है। पुरुषप्रधान नागरिक समाज की संवेदनशीलता पर जमी बर्फ कब हटेगी, प्रशासन की अकर्मण्यता कब टूटेगी इसके बारे में अन्दाज लगाना मुश्किल ही है। ***अंजलि सिन्हा*** *अपने आलेख में यौन भेदभाव के एक कम चर्चित मसले पर रोशनी डाल रही हैं।*

सार्वजनिक शौचालयों के रखरखाव तथा साफ-सफाई के मसले पर अब अदालत की निगाह भी पड़ी है। दिल्ली उच्च न्यायालय ने 2 फरवरी को स्थानीय निकायों को चेतावनी दी है कि यदि उन्होंने उसकी तरफ से 12 जनवरी को दिये गए आदेश का पालन नहीं किया तो उन्हें अदालत की अवमानना का दोषी समझा जाएगा। जानने योग्य है कि उसने 17 जनवरी को निकायों को इसके बारे में आदेश दिया था, लेकिन उस पर भी उसने कई इलाकों में हालत बदतर बनी हुई पायी। जाहिर है कि निकायों ने उसे सिर्फ कागजी आदेश माना।

हर सार्वजनिक स्थल के कुछ निश्चित दूरी तथा जनसंख्या के आधार पर पर्याप्त शौचालय होने चाहिए, लेकिन हम यही देखते हैं कि यह प्रस्ताव सरकारी फाइलों में ही रहता है। आखिर इस सुविधा से लोगों को वंचित रखने के पीछे की मानसिकता क्या हो सकती है इस पर अध्ययन किया जाना चाहिए।

यूं तो शौचालय स्त्री-पुरुष, बड़े-बूढ़े-बच्चे सभी की जरूरत है लेकिन हमारे पुरुष प्रधान समाज में भी उनकी अनुपस्थिति या कमी की सबसे ज्यादा मार स्त्रियों पर पड़ती है। यही देखा जाता है कि सड़कों के किनारे, दीवारों या कोनों के इस्तेमाल के जरिये पुरुष इसका विकल्प ढूंढ़ निकालते हैं, किंतु महिलाओं के सामने ऐसा कोई विकल्प नहीं होता। कई सर्वे रिपोर्ट तथा अध्ययनों ने इस समस्या को उजागर करने के प्रयास किये हैं, लेकिन समस्या ज्यों कि त्यों बनी हुई है।

छत्तीसगढ़ के जिला राजनान्दगांव से कुछ समय पहले प्रकाशित ख़बर के मुताबिक वहां बारह गांवों ने दावा किया था कि उनके यहां शत-प्रतिशत घरों में शौचालय उपलब्ध हैं। बताया जाता है कि यह सिलसिला इन गांवों को गन्दगी से उत्पन्न जानलेवा बीमारियों से मुक्त करने हेतु सरकार तथा स्थानीय पंचायत इकाइयों की पहल पर शुरू हुआ, जिसमें जिला कलेक्टर की अपनी निगरानी में अभियान चलाया गया। ग्रामीण विकास मंत्रालय ने प्रत्येक परिवार को शौचालय बनवाने के लिए 15 सौ रुपये दिए तथा जिन्होंने शौचालय नहीं बनवाए उन पर जुर्माना भी ठोंका गया।

निश्चित ही यह एक सराहनीय प्रयास माना जाएगा जिसे भारत के अन्य गांवों में भी लागू करना चाहिये। परन्तु प्रस्तुत ख़बर में कहीं भी सार्वजनिक शौचालयों की उपलब्धता या उनकी संख्या का कोई जिक्र नहीं था। यह सही है कि संक्रमित बीमारियों से मुक्ति के लिये यह आवश्यक है कि घर-घर में शौचालय हों किन्तु उसी के साथ यह समझ विकसित करना भी जरूरी है, कि यह जेण्डर (स्त्री-पुरुष भेद) का मसला भी है, जिसके तहत घर से बाहर निकलने वाली महिलाओं तथा सार्वजनिक दायरे में उनकी उपस्थिति में उनके इस अधिकार से वंचित किया जाता है, जिसमें वे अपनी प्राकृतिक जरूरत भी पूरी कर सकें।

अगर राजधानी दिल्ली की ही बात करें तो कुछ साल पहले अख़बारों में एक सर्वे रिपोर्ट आयी थी कि दिल्ली नगर निगम द्वारा बनाये गये सार्वजनिक शौचालयों की संख्या 670 थी जिसमें सिर्फ 70 महिला शौचालय थे। सर्वेक्षण के दौरान

इनमें से आधे बन्द पाये गये। अखबार में महिलाओं के अनुभव के आधार पर यह खबर आयी थी कि प्रगति मैदान जैसे जगह पर जहां कई कार्यक्रम देर तक चलते हैं, वहां रात को महिलाओं के शौचालय में ताला जड़ दिया जाता है। दिल्ली सचिवालय के बारे में भी यही समाचार छपा था, जिसमें बताया गया था कि शाम को महिला टॉयलेट पर ताला लगता है। बन्दी के बारे में अधिकारियों का कहना रहता है कि शौचालयों में असामाजिक तत्वों द्वारा आपराधिक गतिविधियों के कारण उन्हें बन्द किया गया है।

यदि देश की राजधानी का यह हाल है तो आप दूसरे शहरों तथा कस्बों के बारे में अन्दाजा ही लगा सकते हैं। गांवों में तो फिर भी कम भीड़भाड़ के कारण ऐसे स्थान मिल जाते हैं, जिसका इस्तेमाल वे कर सकती हैं। वैसे शौचालय के लिए महिलाओं को सुबह अंधेरे में या शाम को सूरज ढलने का इन्तजार भी करना पड़ता है।

सार्वजनिक दायरे में शौचालयों की अनुपस्थिति की छाया स्कूलों पर भी दिखती है। नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एजुकेशन प्लानिंग एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन (नीपा) के एक अध्ययन के मुताबिक देशभर में सिर्फ 32 प्रतिशत स्कूलों में ही लड़कियों के लिए अलग शौचालय की व्यवस्था है जबकि ग्रामीण इलाकों में इसकी संख्या महज 29.41 प्रतिशत ही है। स्कूलों में 40 बच्चों पर एक शौचालय का नियम है तथा बालिकाओं के लिए 25 पर एक शौचालय सुझाया गया है लेकिन यह सब कागज़ पर ही दिखता है। देखने में यही आता है कि दिल्ली के अधिकतर सरकारी स्कूलों में एक या दो शौचालय ही हैं। उसमें भी शायद ही कोई साफ-सुथरा तथा अच्छी हालत में हो।

दिल्ली नगर निगम के 1,800 स्कूल है जिसमें 1,00,000 बच्चे पढ़ते हैं। करीब 2,00,000 बच्चे पट्टी पर ही पढ़ते हैं और शिक्षकों की कमी तो है ही।

दैनिक हिंदुस्तान ने 29 जनवरी को दिल्ली के नगर निगम स्कूलों के शौचालयों की स्थिति पर एक सर्वे रिपोर्ट दी है जिसके अनुसार करीब ढाई दर्जन से अधिक स्कूलों में एक से तीन शौचालय है जबकि नियमतः 40 बच्चों पर एक शौचालय होना चाहिए। बच्चियों के लिए 25 की संख्या पर एक शौचालय सुझाया गया है लेकिन जहां कई स्कूलों में एक ही शौचालय है वहां तो यह सुझाव सपना ही है।

उदाहरण के लिए दिल्ली के कुछ इलाकों के स्कूलों में शौचालयों की संख्या टेबल नं. 1 पर नज़र दौड़ा सकते हैं :

बड़ी होती उम्र में बालिकायें अपने मासिक धर्म के समय में शौचालय न होने के कारण या वहां पानी का इंतजाम न रहने के कारण स्कूल से अनुपस्थित होने पर मज़बूर होती हैं। स्वास्थ्य की मामूली जानकारी रखने वाला भी बता सकता है कि गंदगी के कारण औरतें जल्दी युरिनरी ट्रॅक इन्फेक्शन (मूत्रनली के संक्रमण) की शिकार हो जाती हैं। दिल्ली की पुनर्वास बस्तियों में किशोरियों के साथ की गयी कई कार्यशालाओं के दौरान यही बात सुनने को मिली कि किस तरह उनकी कमी बच्चियों के शिक्षा को प्रभावित कर रही है।

यह सोचने का मसला है कि सड़कों पर या सार्वजनिक स्थलों पर महिलाओं की इस जरूरत पर आखिर नियोजनकर्ताओं का ध्यान क्यों नहीं गया? क्या उन्होंने माना होगा कि सार्वजनिक दायरे में घुसने की वे हकदार नहीं है? या पितृसत्तात्मक मूल्यों वाले समाज में उन्हें स्त्रियों को नियंत्रित करने का यह हथियार लगा? या कुछ और भी? लेकिन अब जब वे हर क्षेत्र में उपस्थित हैं तब तो यह गलती सुधार लेनी चाहिए।

स्वच्छ शौचालय की ख्वाहिश रखना क्या ऐसी ख्वाहिश है जिसे पूरा करना असंभव है? निश्चित ही यह हर व्यक्ति का बुनियादी अधिकार होना चाहिए क्योंकि यह एक प्राकृतिक जरूरत है।

पश्चिम के देश इस मामले में फिर भी संवेदनशील दिखते हैं। न्यूयॉर्क शहर के कार्पोरेशन ने शौचालय के मसले पर बाकायदा रेस्टरूम इक्विटी बिल पास किया, जिसमें नियम बनाया गया कि सार्वजनिक स्थानों पर पुरुषों एवं महिलाओं के लिए बनने वाले शौचालयों में 1:2 का अनुपात होगा अर्थात पुरुषों के लिए अगर एक शौचालय बनेगा तो महिलाओं के लिए दो शौचालय बनेंगे। कौन्सिल ने इस सम्बन्ध में उसके सामने पेश किये अध्ययन पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया कि पुरुषों की तुलना में महिलाओं को निवृत्त होने में अधिक समय लगता है। दिलचस्प बात है कि अपर्याप्त टॉयलेट सुविधाओं को यौन उत्पीड़न का प्रकार मानने के बारे में दायर एक जनहितयाचिका के बाद यह मसला चर्चा में आया था।

टेबल संख्या-1

स्कूल का नाम	बच्चों की संख्या	शौचालयों की संख्या
जहांगीरपुरी		
एचसी ब्लॉक	2213	01
बी ब्लॉक	1462	01
सी ब्लॉक	2128	03
नांगलोई	2868	02
ग्यासपुर	2685	02
ककरौला	2532	02
मुस्तफाबाद	2348	01
राजापुर खुर्द नं 11	2907	03

(स्रोत—दैनिक हिंदुस्तान तारीख 29 जनवरी 2007)

❒

नैराश्य लीला

■ प्रेमचंद

पंडित हृदयनाथ अयोध्या के एक सम्मानित पुरुष थे। धनवान तो नहीं, लेकिन खाने-पीने से खुश थे। कई मकान थे, उन्हीं के किराए पर गुजर होता था। इधर किराए बढ़ गए थे, जिससे उन्होंने अपनी सवारी भी रख ली थी। बहुत विचारशील आदमी थे, अच्छी शिक्षा पाई थी, संसार का काफी तजुरबा था; पर क्रियात्मक शक्ति से वंचित थे, सब-कुछ न जानते थे। समाज उनकी आंखों में एक भयंकर भूत था, जिससे सदैव डरते रहना चाहिए। उसे जरा भी रुष्ट किया, तो फिर जान को खैर नहीं; उनकी स्त्री जागेश्वरी उनका प्रतिबिंब थी, पति के विचार उसके विचार और पति की इच्छा उसकी इच्छा थी। दोनों प्राणियों में कभी मतभेद न होता था। जागेश्वरी शिव उपासक थी, हृदयनाथ वैष्णव थे, पर दान और व्रत में दोनों को सम्मान श्रद्धा थी। दोनों धर्मनिष्ठ थे, उससे कहीं अधिक जितना सामान्यतः शिक्षित लोग हुआ करते थे। इसका कदाचित् यह कारण था कि एक कन्या के सिवा उनके और कोई संतान न थी। उसका विवाह तेरहवें वर्ष में हो गया था और माता-पिता को अब यही लालसा थी कि भगवान इसे पुत्रवती करें, तो हम लोग नवासे के नाम से अपना सब-कुछ लिख-लिखाकर निश्चिंत हो जाएं।

किंतु विधाता को कुछ और ही मंजूर था। कैलासकुमारी का अभी गौना भी न हुआ था, वह अभी तक भी न जानने पाई थी कि विवाह का आशय क्या है, कि उसका सुहाग उठ गया। वैधव्य ने उसके जीवन की अभिलाषाओं का दीपक बुझा दिया।

माता और पिता विलाप कर रहे थे, घर में कुहराम मचा हुआ था; पर कैलासकुमारी भौचक्की हो-होकर सबके मुंह की ओर ताकती थी। उसकी समझ ही में न आता था कि यह लोग रोते क्यों हैं? मां-बाप की इकलौती बेटी थी। मां-बाप के अतिरिक्त वह किसी तीसरे व्यक्ति को अपने लिए आवश्यक न समझती थी। उसकी सुख कल्पनाओं में अभी पति का प्रवेश न हुआ था। वह समझती थी, स्त्रियां पति के मरने पर इसीलिए रोती हैं कि वह उनका और उनके बच्चों का पालन करता है। मेरे घर में किस बात की कमी है? मुझे इसकी क्या चिंता है कि खाएंगे क्या, पहनेंगे क्या? मुझे जिस चीज की जरूरत होगी, बाबूजी तुरंत ला देंगे; अम्मां से जो चीज मांगूंगी, वह दे देंगी। फिर रोऊं क्यों? वह अपनी मां को रोते देखती तो रोती, पति के शोक से नहीं, मां के प्रेम से। कभी सोचती, शायद यह लोग इसलिए रोते हैं कि कहीं मैं कोई चीज न मांग बैठूं जिसे वह दे न सकें। तो मैं ऐसी चीज मांगूंगी ही क्यों? मैं अब भी तो उनसे कुछ नहीं मांगती, वह आप ही मेरे लिए एक न एक चीज नित्य लाते रहते हैं। क्या मैं अब कुछ और हो जाऊंगी?

इधर माता का यह हाल था कि बेटी की सूरत देखते ही आंखों में आंसू की झड़ी लग जाती। बाप की दशा और करुणाजनक थी। घर में आना-जाना छोड़ दिया। सिर पर हाथ धरे कमरे में अकेले उदास बैठे रहते। उसे विशेष दुख इस बात का था कि सहेलियां भी अब उसके साथ खेलने न आतीं। उसने उनके घर जाने की माता से आज्ञा मांगी, तो वह फूट-फूटकर रोने लगीं। माता-पिता की यह दशा देखी, तो उसने उनके सामने जाना छोड़ दिया, बैठी किस्से-कहानियां पढ़ा करती। उसकी एकांतप्रियता का मां-बाप ने कुछ और ही अर्थ समझा। लड़की शोक के मारे घुली जाती है, पर वज्राघात ने उनके हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर डाला है।

एक दिन हृदयनाथ ने जागेश्वरी से कहा—"जी चाहता है, घर छोड़कर कहीं भाग जाऊं। इसका कष्ट अब नहीं देखा जाता।"

जागेश्वरी—"मेरी तो भगवान से यही प्रार्थना है कि मुझे संसार से उठा लें। कहां तक छाती पर पत्थर की सिल रखूं।"

हृदयनाथ—"किसी भांति इसका मन बहलाना चाहिए, जिसमें शोकमय विचार आने ही न पाएं। हम लोगों को दुखी और रोते देखकर उसका दुख और भी दारुण हो जाता है।"

जागेश्वरी—"मेरी तो बुद्धि कुछ काम नहीं करती।"

हृदयनाथ—"हम लोग यों ही मातम करते रहे, तो लड़की की जान पर बन जाएगी। अब कभी-कभी उसे लेकर सैर करने चली जाया करो। कभी-कभी थिएटर दिखा दिया, कभी घर में गाना-बजाना करा दिया। इन बातों से उसका दिल बहलता रहेगा।"

जागेश्वरी—"मैं तो उसे देखते ही रो पड़ती हूं। लेकिन अब जब्त करूंगी। तुम्हारा विचार बहुत अच्छा है। बिना दिल-बहलाव के उसका शोक न दूर होगा।"

हृदयनाथ—"मैं भी अब उससे दिल बहलानेवाली बातें किया करूंगा। कल एक सैरबीं लाऊंगा, अच्छे-अच्छे दृश्य जमा करूंगा। ग्रामोफोन तो आज ही मंगवाए देता हूं। बस, उसे हर वक्त किसी न किसी काम में लगाए रहना चाहिए। एकांतवास शोक-ज्वाला के लिए समीर के समान है।"

उस दिन से जागेश्वरी ने कैलासकुमारी के लिए विनोद और प्रमोद के सामान जमा करने शुरू किए। कैलासी मां के पास आती तो उसकी आंखों में आंसू की बूंदें न देखती, होंठों पर हंसी की आभा दिखाई देती। वह मुस्कराकर कहती—"बेटी, आज थिएटर

में बहुत अच्छा तमाशा होने वाला है। चलो, देख आएं।" कभी गंगा-स्नान की ठहरती, वहां मां-बेटी किश्ती पर बैठकर नदी में जल-विहार करतीं, कभी दोनों संध्या-समय पार्क की ओर चली जातीं। धीरे-धीरे सहेलियां भी आने लगीं। कभी सबकी सब बैठकर ताश खेलतीं, कभी गाती-बजातीं। पंडित हृदयनाथ ने भी विनोद की सामग्रियां जुटाईं। कैलासी को देखते ही मग्न होकर बोलते—"बेटी आओ, तुम्हें आज कश्मीर के दृश्य दिखाऊं;" कभी कहते, "आओ, स्विट्ज़रलैंड की अनुपम झांकी और झरनों की छटा देखें;" इतने सुख से उसके दिन कभी न गुजरे थे।

□ □ □

इस भांति दो वर्ष बीत गए। कैलासी सैर-तमाशे की इतनी आदी हो गई कि एक दिन भी थिएटर न जाती, तो बेकल-सी होने लगती। मनोरंजन नवीनता का दास है और समानता का शत्रु। थिएटरों के बाद सिनेमा की सनक सवार हुई। सिनेमा के बाद मिस्मेरिज्म और हिप्नोटिज्म के तमाशों की। ग्रामोफोन के नए रिकॉर्ड आने लगे। संगीत का चस्का पड़ गया। बिरादरी में कहीं उत्सव होता तो मां-बेटी अवश्य जातीं। कैलासी नित्य इसी नशे में डूबी रहती, चलती तो कुछ गुनगुनाती हुई, किसी से बातें करती तो वही थिएटर और सिनेमा की। भौतिक संसार से अब उसे कोई वास्ता न था, अब उसका निवास कल्पना-संसार में था। दूसरे लोक की निवासिनी होकर उसे प्राणियों से कोई सहानुभूति न रही, किसी के दुख पर जरा दया न आती। स्वभाव में उच्छृंखलता का विकास हुआ, अपनी सुरुचि पर गर्व करने लगी। सहेलियों से डींगें मारती, यहां के लोग मूर्ख हैं, यह सिनेमा की कद्र क्या करेंगे। इसकी कद्र तो पश्चिम के लोग करते हैं। वहां मनोरंजन की सामग्रियां उतनी ही आवश्यक हैं, जितनी हवा। जभी तो वे उतने प्रसन्न-चित्त रहते हैं, मानो किसी बात की चिंता ही नहीं। यहां किसी को इसका रस नहीं। जिन्हें भगवान ने सामर्थ्य भी दिया है, वह भी सरेशाम से मुंह ढांककर पड़े रहते हैं। सहेलियां कैलासी की यह गर्वपूर्ण बातें सुनतीं और उसकी और भी प्रशंसा करतीं। वह उनका अपमान करने के आवेग में आप ही हास्यास्पद बन जाती थी।

पड़ोसियों में इन सैर-सपाटों की चर्चा होने लगी। लोक-सम्मति किसी की रिआयत नहीं करती। किसी ने सिर पर टोपी टेढ़ी रखी और पड़ोसियों की आंखों में खुबा, कोई जरा अकड़कर चला और पड़ोसियों की आवाजें कसीं। विधवा के लिए पूजा-पाठ तीर्थ-व्रत, मोटा खाना है, मोटा पहनना है; उसे विनोद और विलास, राग और रंग की क्या जरूरत? विधाता ने उसके सुख के द्वार बंद कर दिए हैं। लड़की प्यारी सही, लेकिन शरम और हया भी तो कोई चीज है ! मां-बाप ही उसे सिर चढ़ाए हुए हैं, तो उसका क्या दोष? मगर एक दिन आंखें खुलेंगी अवश्य। महिलाएं कहतीं, बाप तो मर्द है, लेकिन मां कैसी है, उसको जरा भी विचार नहीं कि दुनिया क्या कहेगी। कुछ उन्हीं की एक दुलारी बेटी थोड़े ही है, इस भांति मन बढ़ाना अच्छा नहीं।

कुछ दिनों तक तो यह खिचड़ी आपस में पकती रही। अंत को एक दिन कई महिलाओं ने जागेश्वरी के घर पदार्पण किया। जागेश्वरी ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। कुछ देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद एक महिला बोली—"महिलाएं रहस्य की बातें करने में बहुत अभ्यस्त होती हैं—बहन, तुम्हीं मजे में हो कि हंसी-खुशी से दिन काट देती हो। हमें तो दिन पहाड़ हो जाता है। न कोई काम न धंधा, कोई कहां तक बातें करे?"

दूसरी देवी ने आंखें मटकाते हुए कहा—"अरे, तो यह तो बदे की बात है। सभी के दिन हंसी-खुशी में कटें, तो रोए कौन ! यहां तो सुबह से शाम तक चक्की-चूल्हे ही से छुट्टी नहीं मिलती, किसी बच्चे को दस्त आ रहे हैं, तो किसी को ज्वर चढ़ा हुआ है, कोई मिठाइयों की रट लगा रहा है, तो कोई पैसों के लिए महनामथ रचाए हुए है। दिन भर हाय-हाय करते बीत जाता है। सारे दिन कठपुतलियों की भांति नाचती रहती हूं।"

तीसरी रमणी ने इस कथन का रहस्यमय भाव से विरोध किया—"बदे की बात नहीं, वैसा दिल चाहिए। तुम्हें तो कोई राजसिंहासन पर बिठा दे तब भी तस्कीन न होगी। अब और भी हाय-हाय करोगी।"

इस पर एक वृद्धा ने कहा—"नौज ऐसा दिन ! यह भी कोई दिल है कि घर में चाहे आग लग जाय, दुनिया में कितना ही उपहास हो रहा हो, लेकिन आदमी अपने राग-रंग में मस्त रहे। वह दिल है कि पत्थर ! हम गृहिणी कहलाती हैं, हमारा काम है अपनी गृहस्थी में रत रहना। आमोद-प्रमोद में दिन काटना हमारा काम नहीं।"

और महिलाओं ने इस निर्दय व्यंग्य पर लज्जित होकर सिर झुका लिया। वे जागेश्वरी की चुटकियां लेना चाहती थीं, उसके साथ बिल्ली और चूहे की निर्दय क्रीड़ा करना चाहती थीं। आहत को तड़पाना उनका उद्देश्य था। इस खुली हुई चोट ने उनके पर-पीड़न-प्रेम के लिए कोई गुंजाइश न छोड़ी; किंतु जागेश्वरी को ताड़ना मिल गई। स्त्रियों के विदा होने के बाद उसने जाकर पति से यह सारी कथा सुनाई। हृदयनाथ उन पुरुषों में न थे, जो प्रत्येक अवसर पर अपनी आत्मिक स्वाधीनता का स्वांग भरते हैं, हठधर्मी को आत्म-स्वातंत्र्य के नाम से छिपाते हैं। वह सचिंत भाव से बोले—"तो अब क्या होगा?"

जागेश्वरी—"तुम्हीं कोई उपाय सोचो।"

हृदयनाथ—"पड़ोसियों ने जो आक्षेप किया, वह सर्वथा उचित है। कैलासकुमारी के स्वभाव में मुझे एक विचित्र अंतर दिखाई दे रहा है। मुझे स्वयं ज्ञात हो रहा है कि उसके मन बहलाव के लिए हम लोगों ने जो उपाय निकाला है, वह मुनासिब नहीं है। उनका यह कथन सत्य है कि विधवाओं के

लिए यह आमोद-प्रमोद वर्जित है। अब हमें यह परिपाटी छोड़नी पड़ेगी।"

जागेश्वरी—"लेकिन कैलासी तो इन खेल-तमाशों के बिना एक दिन भी नहीं रह सकती।"

हृदयनाथ—"उसकी मनोवृत्तियों को बदलना पड़ेगा।"

□ □ □

शनैः-शनैः यह विलासोन्माद शांत होने लगा। वासना का तिरस्कार किया जाने लगा। पंडित जी संध्या समय ग्रामोफोन न बजाकर कोई धर्मग्रंथ पढ़कर सुनाते। स्वाध्याय, संयम, उपासना में मां-बेटी रत रहने लगीं। कैलासी को गुरुजी ने दीक्षा दी, मुहल्ले और बिरादरी की स्त्रियां आईं, उत्सव मनाया गया।

मां-बेटी अब किश्ती पर सैर करने के लिए गंगा न जातीं, बल्कि स्नान करने के लिए मंदिरों में जातीं। दोनों एकादशी का निर्जल व्रत रखने लगीं। कैलासी को गुरुजी नित्य संध्या-समय धर्मोपदेश करते। कुछ दिनों तक तो कैलासी को यह विचार-परिवर्तन बहुत कष्टजनक मालूम हुआ; पर धर्मनिष्ठा नारियों का स्वाभाविक गुण, थोड़े ही दिनों में उसे धर्म में रुचि हो गई। अब उसे अपनी अवस्था का ज्ञान होने लगा था। विषय-वासना से चित्त आप ही आप खिंचने लगा। 'पति' का यथार्थ आशय समझ में आने लगा था। पति ही स्त्री का सच्चा मित्र, सच्चा पथ-प्रदर्शक और सच्चा सहायक है। पतिविहीन होना किसी घोर पाप का प्रायश्चित है। मैंने पूर्व जन्म में अकर्म किया होगा। पतिदेव जीवित होते, तो मैं फिर माया में फंस जाती। प्रायश्चित का अवसर कहां मिलता ! गुरुजी का वचन सत्य है कि परमात्मा ने तुम्हें कर्मों के प्रायश्चित का यह अवसर दिया है। वैधव्य यातना नहीं है, जीवोद्धार का साधन है। मेरा उद्धार त्याग, विराग, भक्ति और उपासना ही से होगा।

कुछ दिनों के बाद उसकी धार्मिक वृत्ति इतनी प्रबल हो गई कि अन्य प्राणियों से वह पृथक रहने लगी। किसी को न छूती, महरियों से दूर रहती, सहेलियों से गले न मिलती, दिन में दो-दो तीन-तीन बार स्नान करती, हमेशा कोई न कोई धर्मग्रंथ पढ़ा करती। साधु-महात्माओं के सेवा-सत्कार में उसे आत्मिक सुख प्राप्त होता। जहां किसी महात्मा के आने की खबर पाती, उनके दर्शनों के लिए विकल हो उठती। उनकी अमृतवाणी सुनने से जी न भरता। मन संसार से विरक्त होने लगा। तल्लीनता की अवस्था प्राप्त हो गई। घण्टों ध्यान और चिंतन में मग्न रहती। सामाजिक बंधनों से घृणा हो गई। हृदय स्वाधीनता के लिए लालायित हो गया; यहां तक कि तीन ही बरसों में उसने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय कर लिया।

मां-बाप को यह समाचार ज्ञात हुआ तो होश उड़ गए। मां बोली—"बेटी अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है कि तुम ऐसी बातें सोचती हो।"

कैलासकुमारी—"माया-मोह से जितनी जल्दी निवृत्ति हो जाय, उतना ही अच्छा।"

हृदयनाथ—"क्या अपने घर में रहकर माया-मोह से मुक्त नहीं हो सकती हो? माया-मोह का स्थान मन है, घर नहीं।"

जागेश्वरी—"कितनी बदनामी होगी।"

कैलासकुमारी—"अपने को भगवान के चरणों पर अर्पण कर चुकी, तो मुझे बदनामी की क्या चिंता?"

जागेश्वरी—"बेटी, तुम्हें न हो, हमको तो है। हमें तो तुम्हारा ही सहारा है। तुमने संन्यास ले लिया, तो हम किस आधार पर जिएंगे?"

कैलासकुमारी—"परमात्मा ही सबका आधार है। किसी दूसरे प्राणी का आश्रय लेना भूल है।"

दूसरे दिन यह बात मुहल्ले वालों के कानों में पहुंच गई। जब कोई अवस्था असाध्य हो जाती है, तो उस पर व्यंग्य करने लगते हैं। "यह तो होना ही था, नई बात क्या हुई?" लड़कियों को इस तरह स्वच्छंद नहीं कर दिया जाता, फूले न समाते थे कि लड़की ने कुल का नाम उज्ज्वल कर दिया। पुराण पढ़ती है, उपनिषद और वेदांत का पाठ करती है, धार्मिक समस्याओं पर ऐसी दलीलें करती है कि बड़े-बड़े विद्वान की जबान बंद हो जाती है, तो अब क्यों पछताते हैं? भद्र पुरुषों में कई दिनों तक यही आलोचना होती रही। लेकिन जैसे अपने बच्चे के दौड़ते-दौड़ते धम से गिर पड़ने पर हम पहले क्रोध के आवेश में उसे झिड़कियां सुनाते हैं, इसके बाद गोद में बिठाकर आंसू पोंछने और फुसलाने लगते हैं, उसी तरह भद्र पुरुषों ने व्यंग्य के बाद इस गुत्थी के सुलझाने का उपाय सोचना शुरू कर दिया। कई सज्जन हृदयनाथ के पास आए और सिर झुकाकर बैठ गए। विषय का आरंभ कैसे हो?

कई मिनट के बाद एक सज्जन ने कहा—"सुना है, डॉक्टर गौड़ का प्रस्ताव आज बहुमत से स्वीकृत हो गया।"

दूसरे महाशय बोले—"यह लोग हिंदू धर्म का सर्वनाश करके छोड़ेंगे।"

तीसरे महानुभाव ने फरमाया—"सर्वनाश तो हो ही रहा है, अब और कोई क्या करेगा ! जब हमारे साधु-महात्मा, जो हिंदू-जाति के स्तंभ हैं, इतने पतित हो गए हैं कि भोली-भाली युवतियों को बहकाने में संकोच नहीं करते, तो सर्वनाश होने में रह ही क्या गया।"

हृदयनाथ—"यह विपत्ति तो मेरे सिर ही पड़ी हुई है। आप लोगों को तो मालूम होगा।"

पहले महाशय—"आप ही के सिर क्यों, हम सभी के सिर पड़ी हुई है।"

दूसरे महाशय—"समस्त जाति के सिर कहिए।"

हृदयनाथ—"उद्धार का कोई उपाय सोचिए।"

पहले महाशय—"आपने समझाया नहीं?"

हृदयनाथ—"समझा के हार गया। कुछ सुनती ही नहीं।"

पहले महाशय—"उस पर पछताने से क्या होगा? सिर पर जो

पड़ी है, उसका उपाय सोचना चाहिए। आपने समाचार-पत्रों में देखा होगा, कुछ लोगों की सलाह है कि विधवाओं से अध्यापकों का काम लेना चाहिए। यद्यपि मैं इसे भी बहुत अच्छा नहीं समझता, पर संन्यासीनी बनने से तो कहीं अच्छा है कि लड़की अपनी आंखों के सामने तो रहेगी। अभिप्रायः केवल यही है कि कोई ऐसा काम होना चाहिए, जिसमें लड़की का मन लगे। किसी अवलंब के बिना मनुष्य को भटक जाने की शंका सदैव बनी रहती है। जिस घर में कोई नहीं रहता, उसमें चमगादड़ बसेरा लेते हैं।"

दूसरे महाशय—"सलाह तो अच्छी है। मुहल्ले की दस-पांच कन्याएं पढ़ने के लिए बुला ली जाएं। उन्हें किताबें, गुड़ियां आदि इनाम मिलता रहे, तो बड़े शौक से आएंगी। लड़की का मन तो लग जाएगा।"

हृदयनाथ—"देखना चाहिए। भरसक समझाऊंगा।"

ज्यों ही यह लोग विदा हुए, हृदयनाथ ने कैलासकुमारी के सामने यह तजवीज पेश की। कैलासी को संन्यस्त के उच्चपद के सामने अध्यापिका बनना अपमानजनक जान पड़ता था। कहां वह महात्माओं का सत्संग, वह पर्वतों की गुफा, वह सुरम्य प्राकृतिक दृश्य, वह हिमराशि की ज्ञानमय ज्योति, वह मानसरोवर और कैलास की शुभ्र छटा, वह आत्मदर्शन की विशाल कल्पनाएं, और कहां बालिकाओं को चिड़ियों की भांति पढ़ाना। लेकिन हृदयनाथ कई दिनों तक लगातार सेवाधर्म का माहात्म्य उसके हृदय पर अंकित करते रहे। सेवा ही वास्तविक संन्यास है। संन्यासी केवल अपनी मुक्ति का इच्छुक होता है, सेवा-व्रतधारी अपने को परमार्थ की वेदी पर बलि दे देता है। इसका गौरव कहीं अधिक है। देखो, ऋषियों में दधीचि का जो यश है, हरिश्चंद्र की जो कीर्ति है, उसकी तुलना और कहां की जा सकती है। संन्यास स्वार्थ, सेवा त्याग है, आदि। उन्होंने इस कथन की उपनिषदों और वेदमंत्रों से पुष्टि की। यहां तक कि धीरे-धीरे कैलासी के विचारों में परिवर्तन होने लगा। पंडितजी ने मुहल्ले वालों की लड़कियों को एकत्र किया, पाठशाला का जन्म हो गया। नाना प्रकार के चित्र और खिलौने मंगाए। पंडितजी स्वयं कैलासकुमारी के साथ लड़कियों को पढ़ाते। कन्याएं शौक से आतीं। उन्हें यहां की पढ़ाई खेल मालूम होती। थोड़े ही दिनों में पाठशाला की धूम हो गई, अन्य मुहल्लों की कन्याएं भी आने लगीं।

□ □ □

कैलासकुमारी की सेवा-प्रवृत्ति दिनोंदिन तीव्र होने लगी। दिन भर लड़कियों को लिए रहती; कभी पढ़ाती, कभी उनके साथ खेलती, कभी सीना-पिरोना सिखाती। पाठशाला ने परिवार का रूप धारण कर लिया। कोई लड़की बीमार हो जाती, तो तुरंत उसके घर जाती, उसकी सेवा-सुश्रूषा करती, गाकर या कहानियां सुनाकर उसका दिल बहलाती।

पाठशाला को खुले हुए साल-भर हुआ था। एक लड़की को, जिससे वह बहुत प्रेम करती थी, चेचक निकल आई। कैलासी उसे देखने गई। मां-बाप ने बहुत मना किया, पर उसने न माना। कहा, तुरंत लौट आऊंगी। लड़की की हालत खराब थी। कैलासी एक घण्टे तक वहां रही। लड़की बराबर उससे बातें करती रहीं। लेकिन जब वह चलने को उठी, तो लड़की ने रोना शुरू किया। कैलासी मजबूर होकर बैठ गई। थोड़ी देर बाद जब वह फिर उठी, तो रात को भी लड़की ने न आने दिया। हृदयनाथ उसे बुलाने को बार-बार आदमी भेजते, पर वह लड़की को छोड़कर न जा सकती थी। उसे ऐसी शंका होती कि मैं यहां से चली और लड़की हाथ से गई। उसकी मां विमाता थी। इससे कैलासी को उसके ममत्व पर विश्वास न होता था। इस प्रकार वह तीन दिनों तक वहां रही। आठों पहर बालिका के सिरहाने बैठी पंखा झलती रहती। बहुत थक जाती तो दीवार से पीठ टेक लेती। चौथे दिन लड़की की हालत कुछ संभलती हुई मालूम हुई तो वह अपने घर आई, मगर अभी स्नान भी न करने पाई थी कि आदमी पहुंचा—"जल्द चलिए, लड़की रो-रोकर जान दे रही है।"

हृदयनाथ ने कहा—"कह दो अस्पताल से कोई नर्स बुला लें।"

कैलासकुमारी—"दादा, आप व्यर्थ में झुंझलाते हैं। उस बेचारी की जान बच जाए, मैं तीन दिन, नहीं तीन महीने उसकी सेवा करने को तैयार हूं। आखिर यह देह किस दिन काम आएगी?"

हृदयनाथ—"तो कन्याएं कैसे पढ़ेंगी?"

कैलासी—"दो-एक दिन में वह अच्छी हो जाएगी, दाने मुरझाने लगे हैं, तब तक आप जरा इन लड़कियों की देख-भाल करते रहिएगा।"

हृदयनाथ—"यह बीमारी छूत से फैलती है।"

कैलास—"(हंसकर) मर जाऊंगी तो आपके सिर से एक विपत्ति टल जाएगी।" यह कहकर उसने उधर की राह ली। भोजन की थाली परसी रह गई।

तब हृदयनाथ ने जागेश्वरी से कहा—"जान पड़ता है, बहुत जल्द यह पाठशाला भी बंद करनी पड़ेगी।"

जागेश्वरी—"बिना मांझी के नाव पार लगाना बहुत कठिन है। जिधर हवा पाती है, उधर ही बह जाती है।"

हृदयनाथ—"जो रास्ता निकालता हूं, वही कुछ दिनों के बाद किसी दलदल में फंसा देता है। अब तो फिर बदनामी के समान होते नजर आ रहे हैं। लोग कहेंगे, लड़की दूसरों के घर जाती है और कई-कई दिन पड़ती रहती है। क्या करूं; कह दूं, लड़कियों को न पढ़ाया करो?"

जागेश्वरी—"इसके सिवा और हो ही क्या सकता है?"

कैलासकुमारी दो दिन के बाद लौटी, तो हृदयनाथ ने पाठशाला बंद कर देने की समस्या उसके सामने रखी। कैलाशी ने तीव्र स्वर में कहा—"अगर आपको बदनामी का इतना भय है, तो मुझे विष दे दीजिए। इसके सिवा बदनामी से बचने का कोई उपाय नहीं है।"

हृदयनाथ—“बेटी संसार में रहकर तो संसार की-सी करनी ही पड़ेगी।”

कैलासी—“तो कुछ मालूम भी तो हो कि संसार क्या चाहता है ! मुझमें जीव है, चेतना है, जड़ क्योंकर बन जाऊं ! मुझसे यह नहीं हो सकता कि अपने को अभागिनी, दुखिया समझूं और एक टुकड़ा रोटी खाकर पड़ी रहूं। ऐसा क्यों करूं? संसार मुझे जो चाहे समझे, मैं अपने को अभागिनी नहीं समझती। मैं अपने आत्म-सम्मान की रक्षा आप कर सकती हूं, मैं इसे अपना घोर अपमान समझती हूं कि पग-पग पर मुझ पर शंका की जाय, नित्य कोई चरवाहों की भांति मेरे पीछे लाठी लिए घूमता रहे कि किसी खेत में न जा पडूं। यह दशा मेरे लिए असह्य है।”

यह कहकर कैलासकुमारी वहां से चली गई कि कहीं मुंह से अनर्गल शब्द न निकल पड़े। इधर, कुछ दिनों से उसे अपनी बेकसी का यथार्थ ज्ञान होने लगा था। स्त्री पुरुष के कितनी अधीन है, मानो स्त्री को विधाता ने इसीलिए बनाया कि वह पुरुषों के अधीन रहे। यह सोचकर वह समाज के अत्याचार पर दांत पीसने लगती थी।

पाठशाला तो दूसरे ही दिन से बंद हो गई, किंतु उसी दिन से कैलासकुमारी को पुरुषों से जलन होने लगी। जिस सुख-भोग से प्रारब्ध हमें वंचित कर देता है, उससे हमें द्वेष हो जाता है। गरीब आदमी इसीलिए तो अमीरों से जलता है कि धन की निंदा करता है। कैलासी बार-बार झुंझलाती कि स्त्री क्यों पुरुष पर इतनी अवलंबित है? पुरुष क्यों स्त्री के भाग्य का विधायक है? स्त्री क्यों नित्य पुरुषों का आश्रय चाहे, उनका मुंह ताके? इसीलिए न कि स्त्रियों में अभिमान नहीं है, आत्मसम्मान नहीं है। नारी-हृदय के कोमल भाव, कुत्ते का दुम हिलाना मालूम होने लगे। प्रेम कैसा? यह सब ढोंग है; स्त्री पुरुष के अधीन है, उसकी खुशामद न करे, सेवा न करे, तो उसका निर्वाह कैसे हो?

एक दिन उसने अपने बाल गूंथे और जूड़े में एक गुलाब का फूल लगा लिया। मां ने देखा तो ओंठ से जीभ दबा ली। महरियों ने छाती पर हाथ रखे।

इसी तरह उसने एक दिन रंगीन रेशमी साड़ी पहन ली। पड़ोसिनों में इस पर खूब आलोचनाएं हुईं।

उसने एकादशी का व्रत रखना छोड़ दिया, जो पिछले आठ बरसों से रखती आई थी। कंघी और आईने को वह अब त्याज्य न समझती थी।

सहालग के दिन आए। नित्य-प्रति उसके द्वार पर से बारातें निकलतीं। मुहल्ले की स्त्रियां अपनी-अपनी अटारियों पर खड़ी होकर देखतीं। वर के रंग-रूप, आकार-प्रकार पर टीकाएं होतीं, जागेश्वरी से भी बिना एक आंख देखे न रह जाता। लेकिन कैलासकुमारी कभी भूलकर भी इन जुलूसों को न देखती। कोई बारात या विवाह की बात चलाता तो वह मुंह फेर लेती। उसकी दृष्टि में वह विवाह नहीं, भोली-भाली कन्याओं का शिकार था। बारातों को वह शिकारियों के कुत्ते समझती। यह विवाह नहीं है स्त्री का बलिदान है।

□ □ □

तीज का व्रत आया। घरों में सफाई होने लगी। रमणियां इस व्रत को रखने की तैयारियां करने लगीं। जागेश्वरी ने भी व्रत का सामान किया। नई-नई साड़िया मंगवाईं। कैलासकुमारी की ससुराल से इस अवसर पर कपड़े, मिठाइयां और खिलौने आया करते थे। अबकी भी आए। यह विवाहिता स्त्रियों का व्रत है। इसका फल है पति का कल्याण। विधवाएं भी इस व्रत का यथोचित रीति से पालन करती हैं। पति से उनका संबंध शारीरिक नहीं, वरन् आध्यात्मिक होता है। उसका इस जीवन के साथ अंत नहीं होता, अनंत काल तक जीवित रहता है। कैलासकुमारी अब तक यह व्रत रखती आई थी। अबकी उसने निश्चय किया, मैं व्रत न रखूंगी। मां ने सुना तो माथा ठोक लिया, बोली—“बेटी, यह व्रत रखना तुम्हारा धर्म है।”

कैलासकुमारी—“पुरुष भी स्त्रियों के लिए कोई व्रत रखते हैं?”

जागेश्वरी—“मर्दों में इसकी प्रथा नहीं है।”

कैलासकुमारी—“इसीलिए न कि पुरुषों को स्त्रियों की जान उतनी प्यारी नहीं होती, जितनी स्त्रियों को पुरुषों की जान?”

जागेश्वरी—“स्त्रियां पुरुषों की बराबरी कैसे कर सकती हैं? उनका तो धर्म है अपने पुरुष की सेवा करना।”

कैलासकुमारी—“मैं इसे अपना धर्म नहीं समझती। मेरे लिए आत्मा की रक्षा के सिवा और कोई धर्म नहीं।”

जागेश्वरी—“बेटी, गजब हो जाएगा, दुनिया क्या कहेगी?”

हृदयनाथ ने जागेश्वरी से यह बातें सुनी, तो चिंता-सागर में डूब गए। इन बातों का क्या आशय? क्या आत्मसम्मान का भाव जाग्रत हुआ है या नैराश्य की क्रूर कीड़ा है? धनहीन प्राणी को जब कष्ट-निवारण का कोई उपाय नहीं रह जाता, तो वह लज्जा को त्याग देता है। निस्संदेह नैराश्य ने यह भीषण रूप धारण किया है। सामान्य दशाओं में नैराश्य अपने यथार्थ रूप में आता है, पर गर्वशील प्राणियों में यह परिमार्जित रूप ग्रहण कर लेता है। यहां वह हृदयगत कोमल भावों का अपहरण कर लेता है—चरित्र में अस्वाभाविक विकास उत्पन्न कर देता है—मनुष्य लोक-लज्जा और उपहास की ओर से उदासीन हो जाता है; नैतिक बंधन टूट जाते हैं। यह नैराश्य की अंतिम अवस्था है।

हृदयनाथ इन्हीं विचारों में मग्न थे कि जागेश्वरी ने कहा—“अब क्या करना होगा?”

हृदयनाथ—“क्या बताऊं।”

जागेश्वरी—“कोई उपाय है?”

हृदयनाथ—“बस, एक ही उपाय है, पर उसे जबान पर नहीं ला सकता।”

❐

जहान-ए-ख़ुसरो

■ सुशील जोशी

ऐसा वक्त जब कट्टरपंथ अपने धार्मिक उन्माद को पूरा करने के लिए हमेशा सुर्ख़ियों में बने रहते हैं। जब धर्म के नाम पर समाज को बांटा जाता है और जिस समाज में दो प्यार करने वाले लोगों को भी मजहब की दीवारों से रोकने का प्रयास किया जाता हो और जहां कि मीडिया कर्मियों और उनके दफ्तरों को भी नहीं बख्शा जा रहा हो जो कि हमारे समाज का आईना दिखाते हैं, ठीक उसी वक्त में एक दूसरी दुनिया भी कहीं किसी कोने में नजर आई जहां पहुंचकर सांस लेने से एक अजब सुकून महसूस हुआ ये दुनिया थी 'खुसरो' की, जात-पात, धार्मिकता और सारे बंधनों से दूर सिर्फ प्यार का अहसास कराती जहान-ए-खुसरो की दुनिया।

जहान-ए-खुसरो हर साल हजरत अमीर खुसरो के सम्मान में होने वाला एक अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रम है, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है ये खुसरो को एक श्रद्धांजलि स्वरूप है। आज की पीढ़ी भले ही सूफी गीत संगीत की बारीकियों से अंजान हो लेकिन खुसरो से जरूर वाकिफ है क्योंकि खुसरो सिर्फ सूफी संगीत या शायरी तक ही सीमित नहीं रहे। उनके द्वारा रची गई पहेलियां आज भी घर-घर का हिस्सा हैं।

जहान-ए-खुसरो को शुरू हुए सात साल हो चुके हैं इसे सन् 2000 में मशहूर फिल्मकार मुज्जफर अली ने शुरू किया था। बकौल अली सूफी कलाम के अल्फाज़ दिल और समाज की बातें कहते हैं, इनका असर रूह तक होता है। भले ही सूफी आंदोलन का एक निश्चित दौर था जो सदियों पहले गुजर गया लेकिन सूफीज्म में वो ताकत है कि हर दौर में इसकी जरूरत महसूस होती है। इसीलिए इस कार्यक्रम का ये सिलसिला पिछले सात सालों से बदस्तूर जारी है।

हजरत अमीर खुसरो की याद में ये कार्यक्रम हर साल मार्च-अप्रैल के इसी मौसम में आयोजित किया जाता है और चूंकि इसके लिए किसी ऐतिहासिक या पुरातात्विक महत्व की इमारत को चुना जाता है तो इस बार इसका आयोजन किया गया था कुतुब मीनार के पास कुली खान के मकबरे पर।

जहान-ए-खुसरो अब विश्व स्तरीय बन चुका है क्योंकि पिछले साल अक्टूबर में इसे बोस्टन म्यूजियम ऑफ फाइन आर्ट्स में भी आयोजित किया गया था। इसके अलावा इस बार का ये कार्यक्रम इसलिए भी खास था क्योंकि यूनेस्को ने 2007 को अंतर्राष्ट्रीय रूमी वर्ष घोषित किया है जिसकी औपचारिक तौर पर घोषणा मार्च 2006 में यूनेस्को और टर्की की पर्यटन और संस्कृति मंत्रालय पहले ही कर चुका था।

मौलाना जला-उद्-दीन बाखी रूमी को हम एक बड़े कवि, ज्ञाता, दार्शनिक और मानवतावादी के तौर पर जानते हैं। यूनेस्को ने मौलाना रूमी की उनके जन्म की 800 वीं पुण्यतिथि पर उनके सम्मान में एक पदक देने की भी घोषणा की है।

दी दान दे गर आमूज़
शान-इ-दान दे गर आमूज़
देखना और सोचना नया (वास्तविक) तरीका है

मौलाना रूमी की कही ये पंक्ति शायद उन लोगों को कुछ समझा पाए जो सिर्फ धर्म के नाम पर हर चीज बेचना और बांटना चाहते हैं।

सवाल है कि मौलाना रूमी कौन हैं, रूमी एक बड़े कवि, दार्शनिक तो थे ही साथ ही बहुत बड़े ज्ञानी भी थे, इस्लाम को भी मानते थे। वो हज पर भी गए। लेकिन उनका संदेश एक ही था, उन्होंने खुद अपने लिए भी कहा कि न तो वो जीयु है ना ईसाई, ना यहूदी और ना ही मुस्लिम, वो सिर्फ और सिर्फ यही कहना चाहते हैं कि हम सब एक ही ईश्वर की संतान हैं और जात-पात, धार्मिक बंधनों से ऊपर उठकर सोचना चाहिए।

मन-तू-शुदम तू मन शुदी,
मन तन-शुदम तू जां शुदी
ताकशन गोयद बाद अज़ीं
मन दिगरम तू दीगरी

हजरत अमीर खुसरो का ये शेर ऊपर कही गई बात को भी कहीं न कहीं सार्थक करता है। खुसरो बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनका झुकाव सिर्फ शायरी या संगीत तक ही नहीं था बल्कि वो राजनीतिक चहल-पहल में भी खासी रुचि रखते थे। कहते हैं कि हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत और कव्वाली इन्हीं की पैदाइश हैं साथ ही सितार और तबला के जनक के रूप में भी उन्हें ही जाना जाता है और उर्दू के पिता भी खुसरो ही कहे जाते हैं।

खुसरो के कलाम में बहुत विविधता है। वो फारसी और हिंदुस्तानी दोनों में ही लिखते थे। इसके अलावा वो संस्कृत, तुर्की और अरबी भी बोलते थे। खुसरो के कलाम का एक बहुत ही अच्छा उदाहरण है

ज़िहाल-ए-मिस्किन मकून तगाफुल
दुराएं नैना बनाए बतियां
कि ताब-ए-हिज्रा न दारम ए-जान,
ना लेहो काहे लगाए छतियां

खुसरो की इस कविता में पहली पंक्ति 'जिहाल-ए-मिस्किन'

फारसी में है तो दूसरी लाइन में ब्रज भाषा का इस्तेमाल है, फिर तीसरी पंक्ति फारसी की है तो चौथी में फिर से ब्रज भाषा का प्रयोग किया गया है। सच ही है कि इतनी विविधता शायद खुसरो के अलावा कहीं और देखने को नहीं मिली।

जहान-ए-खुसरो भी विविधता में एकता का ऐसा ही अनूठा प्रयास है जिसमें एक ही मंच पर देश-विदेश से कलाकार आते हैं और अपनी पेशकश से लोगों को रू-ब-रू कराने की कोशिश करते हैं। इस आयोजन की शुरुआत हुए सात साल हो चुके हैं और हर बार इसे देखकर यही एहसास होता है कि शायद हमारी मूल्यों, परंपराओं और धरोहरों को सहेज कर लोगों तक पहुंचाने की ये कोशिश कामयाब होती नजर आ रही है।

जहान-ए-खुसरो की इस बार की थीम थी वॉइस ऑफ वूमेन। कार्यक्रम के खास आकर्षण थे निज़ामी ब्रदर्स (दिल्ली), आदिल हुसैनी एंड ग्रुप (हैदराबाद) और शौकत अली एंड ग्रुप (लुधियाना), विदेशी कलाकारों की बात करें तो सबसे ऊपर नाम है आबिदा परवीन (सूफी गायिका, पाकिस्तान), वेंडी जेहलेन (डांसर, कोरियाग्राफर, यू.एस.ए.), सुज़ैन डेहिम (कंपोजर, गायक, अमरीका) और ईरानी संगीतकार।

भारतीय कलाकारों में प्रसिद्ध कव्वालों के अलावा कई नाम थे इनमें ग्वालियर घराने की मीता पंडित, मालिनी अवस्थी, रेखा भारद्वाज, जावेद जाफरी और सुनीत टंडन। तीन दिन तक चलने वाले इस कार्यक्रम के प्रायोजक थे रूमी फाउंडेशन, दिल्ली टूरिज्म और दिल्ली सरकार।

विदेशी कलाकारों में से वेंडी जेहलेन जोकि पिछले 12 सालों से सूफीज्म की गहराइयों में खुद को उतारने की कोशिश कर रही हैं, ने शो को बहुत ही मनमोहक अंदाज में अपने नृत्य के जरिए ओपन किया। वेंडी के 'समां' की प्रस्तुति ने लोगों को मनमोहक ढंग से बांधे रखा। 'समां' दरवेश नृत्य को कहा जाता है इसमें सब कुछ भूलकर बस चारों तरफ घूम-घूमकर उस चरम को प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। मौलाना रूमी भी उसी दरवेश नृत्य, गीत-संगीत के लिए जाने जाते हैं।

13 वीं शताब्दी में जब धार्मिकता और रूढ़िवादिता अपने चरम पर थी तब सूफी आंदोलन का दौर था और जैसा कि कहा जाता है इतिहास दोहराता है, काफी हद तक ठीक भी है। आज भी जिधर नज़र डालें सूफी संगीत का ही दौर नज़र आता है। लोग क्यों इसके पीछे भाग रहे हैं, क्यों इसे पसंद कर रहे हैं, शायद इनका जवाब देने की जरूरत नहीं क्योंकि इन्हीं सब कड़ियों को जोड़ने की कोशिश की है मुज्जफर अली ने जहान-ए-खुसरो के रूप में।

जहान-ए-खुसरो को अगर हम मौजूदा परिप्रेक्ष्य में देखें तो इसकी अहमियत और ज्यादा नजर आती है। आज का युवा, हमारा समाज या समाज का कोई एक तबका भी अगर इन कड़ियों के निचोड़ को समझ पाया था, आत्मसात कर पाया तो जहान-ए-खुसरो सार्थक होता है। क्योंकि जहान-ए-खुसरो सिर्फ सूफी संगीत से ही नहीं रू-ब-रू कराता बल्कि ये एक ऐसा अंतर्राष्ट्रीय मंच बन चुका है जिसमें विविधता में एकता नज़र आती है और सांस्कृतिक गतिविधियों का मेल होता है। विदेशियों से हमें उनकी सांस्कृतिक धरोहर मिलती है तो देशी कलाकार भी हमें हमारी जड़ों से जोड़ने की भरपूर कोशिश करते हैं। जरूरत है तो सिर्फ इसे महसूस करने की, इसे सार्थक करने की। ❐

मुख्तार माई को मानवाधिकार पुरस्कार

पाकिस्तान में महिलाओं के लिए लड़ाई का प्रतीक बन चुकी मुख्तार माई को यूरोपीय परिषद के मानवाधिकार पुरस्कार से सम्मानित किया जा रहा है। मुख्तार माई ने उन लोगों को सजा दिलाने के लिए आंदोलन छेड़ दिया था जिन्होंने उनके साथ बलात्कार किया था। उन्हें आखिरकार बलात्कारियों को सजा दिलवाने में सफलता मिली थी। उन्हें फेयर ट्रेड मूवमेंट के फ्रांसिस्को वैन डेर हॉफ के साथ साझा रूप से इस पुरस्कार के लिए चुना गया है। पहले प्रावधान था कि किसी को भी सजा दिलवाने के लिए चार गवाह लाना जरूरी था। मुख्तार माई के साथ वर्ष 2002 में एक स्थानीय ग्रामसभा के आदेश पर सामूहिक बलात्कार किया गया था। यह सजा एक ऐसे अपराध के लिए सुनाई गई थी जो वास्तव में उसके भाई ने किया था। आमतौर पर इस तरह की सजा के बाद पाकिस्तान में महिलाएं आत्महत्या कर लेती हैं। लेकिन मुख्तार माई इस मामले को लेकर अदालत गई। पहले तो पाकिस्तान सरकार का रवैया मुख्तार माई को लेकर अच्छा नहीं था। लेकिन मुख्तार माई के लंबे आंदोलन के बाद आखिरकार बलात्कारियों को सजा दिलाने वाले काननू को संसद ने मंजूरी दे दी।

स्रोत bbc.co.uk/hindi

मेरा भगवान

■ सहजानंद सरस्वती

कहते हैं कि वह (ईश्वर) सब काम पलक मारते कर देता है और जिस बात को नहीं चाहता उसे कदापित नहीं होने देता। लेकिन दूसरों का काम संभालने और भक्तों का हुक्म बजाने से पहले वह अपना काम तो संभाले। तभी हम मानेंगे कि वह बड़ा शक्तिमान या सब कुछ कर सकने वाला है सब कुछ करता है। एक दिन किसान के घी से भगवान के मन्दिर में दीप मत जलाइये और भगवान से कह दीजिये कि आपकी सामर्थ्य की परीक्षा आज ही है। देखें, आपके घर में मन्दिर में मस्जिद में अंधेरा ही रहता है या उजाला भी होता है। रात भर देखते रहिये। मन्दिर का फाटक बन्द करके छोटे से सूराख से रह-रहकर देखिये कि कब चिराग जलता है! आप देखेंगे कि जलेगा ही नहीं, रात भर अंधेरा ही रहेगा!

इसी प्रकार एक दिन न घण्टी बजे, न आरती हो और न भोग लगे! किसान के गेहूँ, दूध और उसके पैसे से खरीदी घण्टी, आचमनी आदि हटा लीजिये। फिर देखिये कि दिन-रात ठाकुरजी भूखे रहते और प्यासे मरते हैं या उन्हें भोजन उनकी लक्ष्मीजी पहुंचाती हैं, दिन-रात मन्दिर सुनसान ही और मातमी शक्ल बनाये रह जाता है या कभी घण्टी वगैरह भी बजती है! पता लगेगा कि सब मामला सूना ही रहा और ठाकुरजी या महादेव बाबा को 'सोलहों दण्ड एकादशी' करनी पड़ी! एक बूंद जल तक नदारद आरती, चन्दन, फूल आदि का तो कहना ही क्या! सभी गायब! वे बेचारे जाने किस बला में पड़ गये कि यह फाकामस्ती करनी पड़ी।

और ये मन्दिर बनते भी हैं किसके पैसे और किसके परिश्रम से? जब मन्दिर का कोटा टूट जाय, तो ललकार दीजिये ठेठ भगवान को, वे जरा खुद-ब-खुद मरम्मत तो करवा लें। नये मन्दिर बनाने की तो बात ही दूर रही! वह कोना तब तक टूटा का टूटा ही रहेगा जब तक किसान का पैसा और मजदूर का हाथ उसमें न लगे! यदि कोई मन्दिर भूकम्प से या यों ही अकस्मात् गिर गया हो और भगवान उसी के नीचे दब गये हों तो उनसे कह दीजिये कि बाहर निकल आयें अगर शक्तिमान हैं! पता लगेगा कि जब तक गरीब लोग हाथ न लगायें, तब तक भगवान उसी के नीचे दबे कहराते रहेंगे। चाहे मरम्मत हो या नये-नये मन्दिर बनें सभी केवल मेहनत करने वालों के ही पैसे या परिश्रम से तैयार होते हैं।

आगे बढ़िये! गंगा को तीर्थ, मन्दिर को मन्दिर, जगन्नाथ धाम को धाम किसने बनाया है? किसके चरणों की धूल की यह महिमा है कि तीर्थों, मन्दिरों और धामों का महत्त्व हो गया? किसने गोबर को गणेश और पत्थर को विष्णु या शिव बना डाला? क्या अमीरों और पूंजीपतियों ने? सत्ताधारियों ने? यदि नंगे पांव और धूल लिपटे किसान मजदूर गंगा में स्नान न करें, उन्हें गंगा माई न मानें, मन्दिरों में न जायें तो मन्दिर का महत्व न हो, जगन्नाथ और रामेश्वर धाम न जायें तो क्या सिर्फ मालदारों के नहाने, दर्शन करने या तीर्थ-यात्रा से गंगा आदि तीर्थों, मन्दिरों और धामों का महत्व रह सकता है? उनका काम चल सकता है? गरीबों ने यदि बहिष्कार कर दिया तो यह ध्रुव सत्य है कि राजाओं-महाराजाओं और सत्ताधारियों की लाख कोशिश करने पर भी गंगा और तलैया में कोई अन्तर न रह जायगा, मन्दिर और दूसरे मकान में फर्क न होगा और धामों या तीर्थों की महत्ता खत्म हो जायगी। उन लोगों के दान-पुण्य से ही मन्दिरों और धामों का काम और खर्च भी नहीं चल सकता यदि गरीबों के पैसे-धैले न मिलें। जल्द ही दिवाला बोल जायगा और पण्डे-पुजारी मन्दिरों, तीर्थों और धामों को छोड़कर भाग जायंगे!

यह तो करोड़ों गरीबों के नंगे पांवों में लगी धूल चरण रज की ही महिमा है, यह उसी का प्रताप है कि वह जब गंगा में पहुंचकर धुल जाती है तो वह गंगा माई कहलाती है; जब मन्दिरों में वही धूल पहुंच जाती है तो वहां भगवान का वास हो जाता है, पत्थर को भगवान व गोबर को गणेश कहने लगते हैं; जब वही धूल जगन्नाथ और रामेश्वर के मन्दिरों में जा पहुंचती है तो उनकी सत्ता कायम रहती है और उनकी महिमा अपरम्पार हो जाती है। गरीबों के तो जूते भी नहीं होते। इसीलिए तो उनके पांवों की धूल ही वहां पहुंच कर सब को महान बनाती है।

कहते हैं कि महादेव बाबा खुद तो दरिद्र और नंगे-धड़ंगे शमशान में पड़े रहते हैं, मगर भक्तों को सब सम्पदायें देते हैं उन्हें बड़ा बनाते हैं! पता नहीं, बात क्या है? किसी ने आंखों से देखा नहीं। मगर ये किसान और कमाने वाले तो साफ ही ऐसे 'महादेव बाबा' हैं कि स्वयं दिवालिये होते हुए भी, ईश्वर तक को ईश्वर बनाते और खिलाते-पिलाते हैं!

ईश्वर सबको खिलाता-पिलाता है, ऐसा माना जाता है सही। मगर किसने उसे हल चलाते, गेहूँ, बासमती उपजाते, गाय-भैंस पाल कर दूध-घी पैदा करते, हलुवा-मलाई बनाते तथा किसी को भी खिलाते देखा है? लेकिन किसान तो बराबर यही काम

करता है। वह तो हमेशा ही दुनिया को खिलाता-पिलाता है!

इतना ही नहीं। कहते हैं कि ईश्वर तो केवल भक्तों को खिलाता और पापियों को भूखों मारता है। वह अपनों को ही खिलाता है। इसलिए वह एक प्रकार की तरफदारी करता है। मगर किसान की तो उल्टी बात है! वह तो जालिमों और सताने वाले जमींदारों, साहूकारों और सत्ताधारियों को ही हलुवा-मलाई खिलाता है और खुद बाल-बच्चों के साथ या तो भूखा रहता है या आधा पेट सत्तू अथवा सूखी रोटी खाकर गुजर करता है! ऐसी दशा में असली भगवान तो वह किसान ही हैं!

दुनिया माने या न माने। मगर मेरा तो भगवान वही है और मैं उसका पुजारी हूं। खेद है, मैं अपने भगवान को अभी तक हलुवा और मलाई का भोग न लगा सका, रेशम और मखमल न पहना सका, सुन्दर सजे-सजाये मन्दिर में पधरा न सका, मोटर पर चढ़ा न सका, सुन्दर गाने-बजाने के द्वारा रिझा न सका और पालने पर झुला न सका। मगर उसी कोशिश में दिन-रात लगा हूं इसी विश्वास और अटल धारणा के साथ कि एक-न-एक दिन यह करके ही दम लूंगा; सो भी जल्द! ❐

स्रोत स्वामी सहजानंद रचनावली

कविता

आज यदि चुप रहे तो कल फिर जुल्म बढ़ेगा
फिर एक कहावत बनेगी, लड़कियां झगड़े की जड़ होती हैं
लड़कियों को पहले गर्भ में ही मार डालोगे
फिर तुम्हारे लड़के जिन्हें आप वंश चलाने वाला मानते हो
वे कैसे तुम्हारे वंश को चला पायेंगे
अपने बोये हुए बीजों के फल जब पाओगे
उसका दोष भी लड़कियों को ही लगाओगे
फिर जब वंश चलाने के लिए वंश की जन्मदात्री ढूंढोगे
तब तक वह गायब हो चुकी होगी
और जो तुम्हारे क्रूर हाथों से बच जायेगी
उसके लिए करोगे तुम छीना-झपटी
लड़ाई करोगे खुद और कहोगे महिला झगड़े की जड़ है
इसलिए यदि निष्पक्ष समाज चाहते हो
और बेटा-बेटी दोनों को वंश चलाने वाला मानते हो
तो दोनों को दो मौके पलने-बढ़ने के
और इन कहावतों को कहना खत्म करो
जर, जोरु और जमीन झगड़े की जड़ है
नयी कहावतें गढ़ो
लड़का-लड़की एक समान ना कोई छोटा ना कोई महान

नीलम रावत
आई.एस.डी.

अन्न-पचीसी

...पृष्ठ 3 का शेष भाग

22
हरी चूनरी, लाल घाघरा, भूख-भवानी आई
दुखियों की माँ मजलूमों की अपनी रानी आई
महाकाल की मौसी आई यम की नानी आई
तटबंधों की क्षय होगी क्या, प्रलय हिमानी आई
हरी चूनरी, लाल घाघरा, भूख-भवानी आई
23
हम भी अब हल-बैल सँभालें रचना-फचना छोड़ें
काफी गोद लिया कागज, आओ अब धरती कोड़ें
खिला चुके आकाश कुसुम, मिट्टी से नाता जोड़ें
अन्न नहीं है उधर, इधर आओ अपना रुख मोड़ें
हम भी अब हल-बैल सँभालें रचना-फचना छोड़ें
24
कोटि-कोटि मुख-कमल खिलेंगे, इन्हें चाहिए दाना
कोटि-कोटि कर-कमल हिलेंगे, इन्हें चाहिए दाना
आधा अनशन आधा भोजन, इन्हें चाहिए दाना
नया राष्ट्र नौ लाख नियोजन, इन्हें चाहिए दाना
कोटि-कोटि मुख-कमल खिलेंगे, इन्हें चाहिए दाना
25
नव विधान, नव यंत्र रचेगी अन्नब्रह्म की माया
नई ऋचा, नव मंत्र रचेगी अन्नब्रह्म की माया
चिंतन को नव इंगित देगी अन्नब्रह्म की माया
युग की पीड़ाएँ हर लेगी अन्नब्रह्म की माया
नव विधान, नव यंत्र रचेगी अन्नब्रह्म की माया

नागार्जुन

साथियों,
हम उम्मीद करते हैं कि आई.एस.डी. का न्यूज़लैटर 'समरथ' आपको नियमित रूप से मिल रहा है। हम चाहते हैं कि आप 'समरथ' पर अपनी आलोचना, प्रतिक्रियाएं और सुझाव भेजें वो चाहे विषयों के चयन पर हो या फिर भाषा और शैली को लेकर। साथ ही ये भी बताएँ कि आप किन और विषयों को 'समरथ' में जोड़ना चाहेंगे। ये हमें 'समरथ' को और भी उपयोगी बनाने में मदद करेगा। हमें आपके ख़तों का इंतज़ार रहेगा।

सधन्यवाद

Place Stamp Here

isd **इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**
फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस
62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका
नई दिल्ली-110067

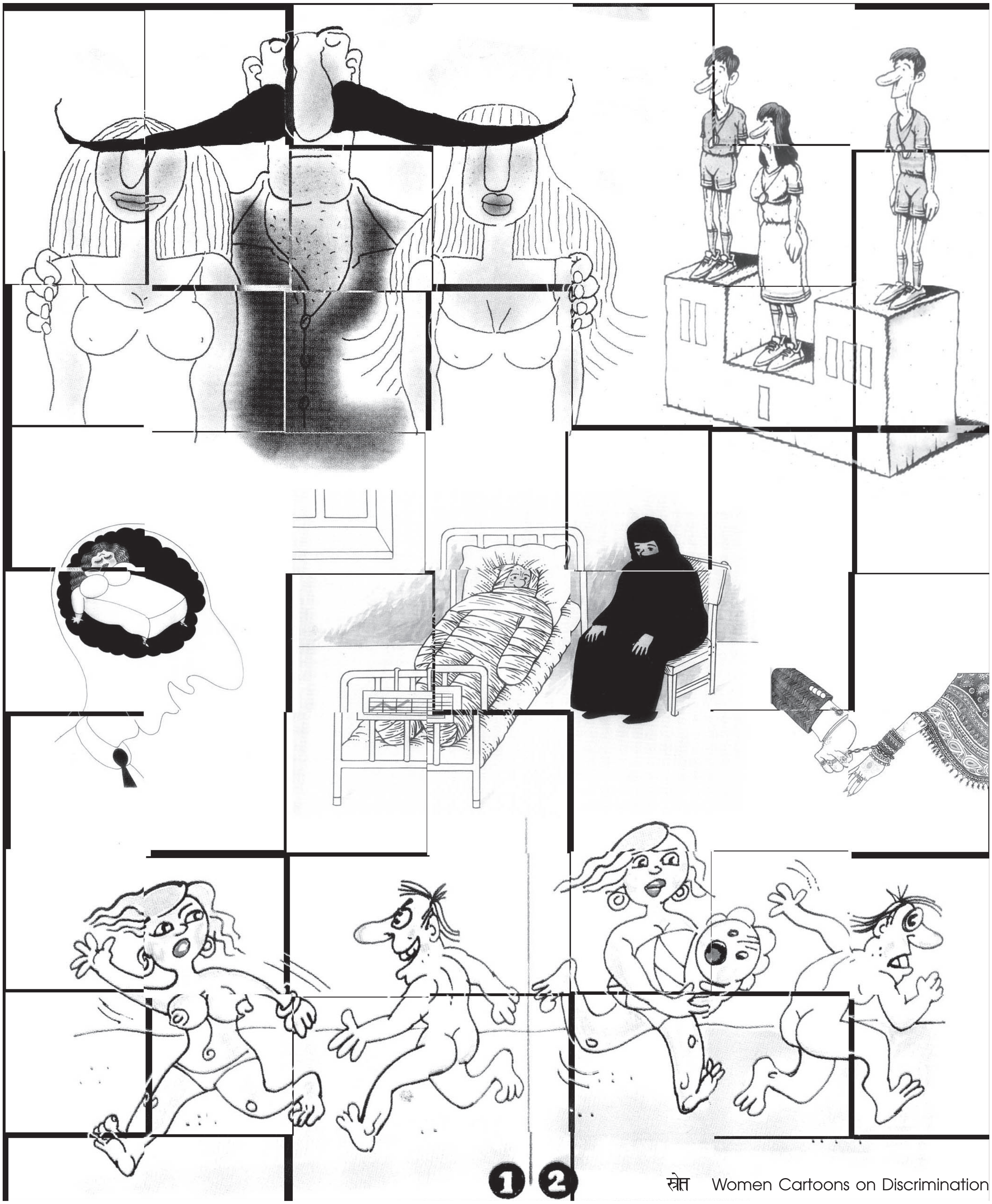

स्रोत Women Cartoons on Discrimination

isd **इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

केवल सीमित वितरण के लिए